नव-उपनिषत्-संग्रह

अर्थात्

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और छान्दोग्य उपनिषद्

का

सरल हिन्दी अनुवाद

अनुवादक—

श्री पं० देवेन्द्रनाथजी शास्त्री, सांख्यतीर्थ

आचार्य्य गुरुकुल सिकन्दराबाद

प्रकाशक—

आर्य-साहित्य-मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

प्रथमावृत्ति | सं० १९९२ वि० | मूल्य ।।।) आने

बृजलाल बाल्जा,

लाहौर प्रिंटिंग वर्क्स, फ़हतपुरी, दिल्ली ।

कवर तथा भूमिका

दि फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर में छपी

॥ ओ३म् ॥

प्राक्-कथन

प्राचीन काल में जिस समय भारतवर्ष की सभ्यता का सूर्य्य अपने प्रखर तेज से संसार भर में चमक रहा था, उस समय भारत की पवित्र भूमि ज्ञान और कर्मों के पवित्र स्रोतों का निकास बन रही थी। देश-देशान्तर से लोग यहाँ आते थे और यहाँ के ऋषियों, मुनियों तथा आचार्यों से ज्ञान और सदाचार की शिक्षा लेकर अपने देश में उस ज्ञान और आचार की शिक्षा देते थे। उस समय गुरुओं के आश्रम ही तीर्थ होते थे। वहाँ ज्ञानियों की सभाओं में सर्वत्र वेद का श्रवण और मनन होता था। उपनिषदों के ज्ञान की कथाएँ होती थीं और धर्म्मशास्त्रों का निरन्तर पठन-पाठन हुआ करता था।

पहिले उपनिषदों की शान्तिप्रद कथाएं वन-उपवन, तीर्थ, आराम और मुनियों के आश्रमों में सर्वत्र ही हुआ करती थीं, नगर-वासी गृहस्थ अपने अन्तःकरण की शान्ति के लिये कथा सुनने के निमित्त तीर्थ-यात्रा तथा साधु-महात्माओं के दर्शन के व्याज से वहाँ जाते और वास्तविक शान्ति का लाभ करते थे।

अब तो वे सब बातें लुप्त ही हो गई हैं, तो भी अभी बहुत सा अवसर है कि, हम नित्य वेद, उपनिषद् तथा धर्मशास्त्रों का श्रवण करें, उन पर विचार करें और उनमें लिखे ज्ञान तथा उपदेशों को अपने जीवन में ढालें।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन धर्म-शास्त्र तथा उपनिषदें और

वेद बड़े गम्भीर ज्ञानों के भण्डार हैं। उनकी भाषा संस्कृत का वर्तमान में चलन न होने के कारण उनका सहज में समझना साधारण लोगों के लिये कठिन है। इस भाषा की कठिनता को अनुभव कर के ही लोग प्रायः उनका पठन-पाठन छोड़ देते हैं और जो स्वाध्याय करना भी चाहते हैं उनको भी सरल भाषा में ग्रन्थ न मिलने के कारण निराश होकर अपना मनोरथ छोड़ देना पड़ता है। मेरा सब भाइयों से एक यह निवेदन है कि वेद, उपनिषद् तथा धर्मशास्त्र के पठन-पाठन में कभी आलस्य न किया करें। चाहे भाषा की कठिनता और भावों की गम्भीरता के कारण वे पहले पहल समझ में न आवें, परन्तु यह बात याद रखनी चाहिये कि, थोड़ासा भी श्रम करने में वेद और उपनिषदों का ज्ञान शनैः शनैः समझ में आने लगता है तथा हृदय में बड़ी शान्ति पैदा होती है।

इसी प्रयोजन को यह पुस्तक पूर्ण करती है, जिसे पढ़कर सभी लोग उपनिषदों के वचनों का श्रवण और मनन करके हृदय को शान्ति का सुख लें।

सब उपनिषदों में मुख्य ११ उपनिषद् हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। ये उपनिषदें वेद के आध्यात्मिक ज्ञान की व्याख्या और उपदेश करती हैं।

बहुतों का विचार है कि वेद में आध्यात्मिक ज्ञान का भाग नहीं है। उपनिषदें पीछे से अलग ऋषि मुनि लोगों ने बनाई हैं। परन्तु यह उन लोगों का भ्रम ही है। क्योंकि सब उपनिषदों में

नयी बात कुछ भी नहीं है, वे सभी वेद के मन्त्रों में कहे आध्यात्मिक ज्ञान की ही रूपान्तर में व्याख्या करती हैं। जैसे उदाहरण के लिये आप ईश-उपनिषद् को ही ले लीजिये।

ईशोपनिषद् यजुर्वेदका ४० वाँ अध्याय ही है। इस कारण ईशोपनिषद् वेद का स्वतः एक भाग है। बृहदारण्यक उपनिषद्, जो सब उपनिषदों में सब से बड़ी है, यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ का अन्तिम भाग है और यह यजुर्वेद के ४० वें अध्याय का विस्तृत व्याख्यान है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद के छान्दोग्य ब्राह्मण का एक भाग है। काठक आदि अन्य उपनिषदें भी वेद के भाग तथा उनके व्याख्यारूप नाना ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थों के ही भाग है। और ब्राह्मण और आरण्यक सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। यह सब जानकर इस भ्रम में न पड़ना चाहिये कि, वेद उपनिषदों से भिन्न हैं। परन्तु वेद तो स्वयं उस ब्रह्म का सब से प्रथम निरूपण करते हैं।

सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवक्ष्ये ओमित्येतत्।"

जिस परम पद का सब वेद उपदेश करते हैं, सब तप जिसका उपदेश करते हैं, जिस के प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उसके परम पद को मैं संक्षेप से कहता हूं, वह 'ओ३म्' पद है।

अर्थात् उपनिषद् स्वयं कहती है कि, सब वेद उसी परम पद

ब्रह्म 'ओ३म्' का उपदेश करते हैं। उपनिषद् भी उसी 'ओ३म्' का उपदेश करती है। सर्व साधारण में एक यह भी भ्रम फैल गया है कि, जीव ब्रह्म को एक मानकर सब को ब्रह्म ही ब्रह्म मानना, संसार भरको माया कह देना तथा उसी विषयपर घण्टों तर्क करना 'वेदान्त' कहता है। ब्रह्म-ज्ञान की ऐसी दुर्दशा देखकर चित्त में बड़ा खेद होता है। नाना प्रकार के तर्क-वितर्कों में समय खो देने से न कुछ ज्ञान प्राप्त होता है और न आत्मा को शान्ति ही मिलती है। साथ ही मनुष्य वेद के सत्य उपदेश से भी सदा के लिये वंचित हो जाता है।

वास्तव में 'वेदान्त' यही उपनिषद् हैं। यजुर्वेद का ४० वां अध्याय ईशोपनिषद् है। जिस समय यज्ञ-कर्मों द्वारा सम्पूर्ण वेद के उपदेश क्रिया रूपसे जान लिये जाते हैं, तब जीवन के शेष भाग में ब्रह्म ज्ञान का मनन किया जाता है। यही वेद का प्रतिष्ठा-भाग होने से 'वेदान्त' कहा जाता है। वेदों का ज्ञानमय सिद्धान्त ही 'वेदान्त' कहाता है। सम्पूर्ण यज्ञ-कर्म इसी ब्रह्म-सिद्धान्त पर आश्रित हैं। इसीसे यह उपनिषद् भाग वेद का परम सार, अन्तर्हृदय, गूढ़ तत्त्व कहा जाता है। यही सब वेदों का परम निर्णय है। सब यज्ञ, तप, जप, तर्क, इसी ब्रह्म-सिद्धान्त पर आश्रित हैं, जिसका प्रतिपादन ये उपनिषदें करती हैं।

उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान केवल एक बार के सुनने से ही हृदय में नहीं बैठता। बार बार श्रवण, बार बार मनन और निदिध्यासन करने से उसका रहस्य खुलता है। बड़े बड़े तत्त्वज्ञानी

उपनिषद् के रहस्य के मनन करने में अपना जीवन लगा देते थे। वे उसका ज्ञान करने के लिये बड़े-बड़े तपस्वी ज्ञानी गुरुओं की उपासना करते थे। वे वैराग्यनिष्ठा और व्रत को धारण करके ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते थे। इससे ये उपनिषद् कहाती हैं। (उप = पास, नि-सद् = बैठना) गुरु के पास बैठ कर इनके रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान के बल से अल्प-ज्ञानी जीव अपने परम गुरु ज्ञानमय परब्रह्म के समीप पहुंचता है। इस कारण भी गुह्य-ज्ञान देने हारे मन्त्रों को उपनिषद् कहा जाता है।

इन उपनिषदों का सत्य ज्ञान प्राप्त करके और अन्यों को उसका उपदेश करने के लिये बड़े तप, सत्य और साधना की आवश्यकता होती है। विशाल तपस्या और निष्ठा से ही इस पवित्र ज्ञान को पाने के अधिकारी होते हैं। प्रश्नोपनिषद् में आप देखें भगवान् पिप्पलाद ऋषि के पास जिस समय ऋषि लोग आये और ब्रह्म जानने की इच्छा प्रकट की तब भगवान् पिप्पलाद ने कहा :—

"भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। यथाकामं प्रश्नान्पृच्छथ, यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्यामः। प्रश्न उपनि० ॥

"हे ऋषियो! आप लोग एक वर्ष और ब्रह्मचर्यका पालन तप और श्रद्धा-पूर्वक करो, फिर यथेच्छ प्रश्न पूछना। यदि मुझे उनका ज्ञान होगा तो अवश्य कहूंगा।"

प्रिय भाइयो! ऋषि लोग कितने निष्कपट, निश्छल, उदार तथा सत्यवादी होते थे। वे तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त

करते और ऐसे ही पुरुष को ज्ञान का सत्य हृदय से उपदेश करते थे।

वर्त्तमान में हम लोगों में इन सभी योग्यताओं का अभाव है। हमारा उस पवित्र ब्रह्म-ज्ञान को अनायास पा लेना एक उस बौने पुरुष के समान है जो खजूर के नीचे अपने हाथ उठाकर ही फल तोड़ लेना चाहता है।

तिसपर भी हमें हतोत्साह न होना चाहिये। हमारा परम कर्त्तव्य है कि, हम उपनिषदों और वेद-वाक्यों का पवित्र ज्ञान प्राप्त करने में सदा यत्नवान् रहें। विद्वानों और ज्ञानी पुरुषों के बनाये ग्रंथों का स्वाध्याय करें। उनका यथाशक्ति प्रकाश कर आत्मा की सच्ची शक्ति का अनुवभ करें और अन्यों को भी करावें।

श्री पं० देवेन्द्रनाथजी शास्त्री सांख्यतीर्थ आचार्य (-गुरुकुल सिन्दराबाद) ने बड़ी योग्यता से यह सरल सुबोध और न-अति विस्तृत, परिमित अनुवाद समस्त-आर्य जनता के लिये प्रस्तुत किया है। जिससे नित्य नियम से पढ़ते २ उपनिषदों का ज्ञान अनायास हृदय में जमे और सर्व साधारण गरीब अमीर सभी इससे लाभ उठा सकें इसलिये बहुत ही कम दामों में यह पुस्तक प्रस्तुत की जारही है। आशा है उपनिषत्-प्रेमी सज्जन इससे लाभ उठावेंगे।

आर्य साहित्य-मण्डल लिमिटेड, अजमेर.	जयदेव शर्मा, विद्यालङ्कार, मीमांसा-तीर्थ.

एकादशोपनिषद् संग्रह
भाषा टीका सहित।

ईशोपनिषद्।

ईशा वास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजी था मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

हे मनुष्यो! ये सब जो कुछ संसार में चराचर वस्तु हैं। ईश्वर से ही व्याप्त हैं, अर्थात् ईश्वर सर्वत्र व्यापक है, उसी ईश्वर के दिए हुए पदार्थों से भोग करो, किसी के भी धन का लालच मत करो। अर्थात् किसी के भी धन को अन्याय पूर्वक लेने की इच्छा मत करो।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

इस संसार में मनुष्य वेदोक्त शुभ कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, अर्थात् नित्य नैमित्तिक शुभ कर्मों का कभी भी त्याग न करे। इस प्रकार से निष्काम

कर्म करते हुए तुझ मनुष्य में (अधर्म युक्त) कर्म लिप्त नहीं होते, (मोक्ष प्राप्ति का) इससे भिन्न और कोई मार्ग नहीं है।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्म हनो जनाः ॥३॥

जो लोग अपनी आत्मा के विपरीत आचरण करने वाले हैं वे आत्मघाती है, वे इस लोक में और मरने के अनन्तर भी निश्चय ही उन लोक अर्थात् योनियों को प्राप्त होते हैं। जो निविड अन्धकार से आच्छादित हैं और प्रकाश रहित हैं— अर्थात् जो लोग आत्मा और ईश्वर के ज्ञान के विना ही इस संसार से कूच कर जाते हैं वे आत्म घाती हैं। उन लोगों ने अपनी आत्मा को हनन किया है यदि वे चाहते तो वैदिक कर्मा-नुष्ठान और ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र करके मोक्ष का अधिकारी वना सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसी लिये वे ऐसी २ योनियों में जन्म पाते हैं जहाँ अज्ञान ही अज्ञान है, ज्ञान का नाम भी नहीं है। इस लिये मनुष्य को आत्म साक्षात्कार का सदैव प्रयत्न करना चाहिये—और सांसारिक विषयों से मुख मोड़ कर परमात्म चिन्तन में जीवन लगाना चाहिये।

जो ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है जिसका पूर्व मन्त्र में व्याख्यान किया है वह ब्रह्म कैसा है अब इसका व्याख्यान करते हैं:—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

जो ब्रह्म एक अर्थात् अद्वितीय और अचल एक रस है वह मन से भी अधिक वेग वाला है क्योंकि वह सब जगह पहिले से ही व्याप्त है—उस ब्रह्म तक इन्द्रियां नहीं पहुँचतीं, अर्थात इन्द्रियों का विषय न होने के कारण इन्द्रियाँ उसको नहीं जान सकतीं। वह ब्रह्म स्वयं ठहरा हुआ भी है तो भी दौड़ते हुए अन्य सब पदार्थों को उल्लङ्घन कर जाता है (क्योंकि दौड़ने वाले हर पदार्थ से पूर्व ही वह हर स्थान पर विद्यमान रहता है) उसी के भीतर वायु मेघादि रूप में जलों को धारण करता है।

फिर वह कैसा है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

वह ब्रह्म गति वाला है अर्थात प्रत्येक पदार्थ को गति देता हैं परन्तु स्वयं गति शून्य है, वह दूर भी है और समीप भी है वह इस सारे संसार के अन्दर है और वही इस के बाहर है। जिस तरह चुम्बक पत्थर स्वयं गति न करता हुआ भी लोहे को गति दे देता हैं इसी प्रकार ब्रह्म में स्वयं गति नहीं है फिर भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को वही गति प्रदान करता है और आत्मा में व्यापक होने से वह बहुत ही समीप है तथापि आँख में पड़े सुर्मे के समान वह दिखाई नहीं देता इसीलिये दूर है जिस तरह दिया सलाई की अग्नि बिना घिसे प्रकट नहीं होती इसी तरह ब्रह्म भी बिना योगाभ्यास के प्राप्त नहीं होता.।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान का फल क्या है ?

उत्तर,—

यस्तु सर्व्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

जो मनुष्य चराचर जगत को परमेश्वर में ही देखता है और सम्पूर्ण चराचर जगत् में ही परमात्मा को देखता है इस से वह निन्दित आचरण नहीं करता । अर्थात् जो मनुष्य परमात्मा को सर्वत्र व्यापक जानता है वह उसके भय से कभी भी निन्दित आचरण नहीं करता ।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

विशेष ज्ञान सम्पन्न योगी की दृष्टि में जब सम्पूर्ण चराचर जगत् परमात्मा ही होजाता है उस अवस्था में परमात्मा के एकत्व को देखने वाले उस योगी के लिये मोह और शोक कहां । अर्थात् मोह और शोक के स्थान तो भौतिक पदार्थ हैं जब उनसे सम्बन्ध त्याग कर मुमुक्षु केवल एक ब्रह्म को ही सर्वत्र देखता है तब उसे मोह शोकादि नहीं सताते ।

जिस ब्रह्म के ज्ञान से शोक मोहादि की निवृत्ति होजाती है उसके स्वरूप का अब प्रतिपादन करते हैं ।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, वह सर्व शक्तिमान् और शुक्र अर्थात् सकल जगदुत्पादक है, वह अकाय अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित अतएव अव्रण अर्थात् शारीरिक विकार रहित तथा नाड़ी और नस के बन्धन से रहित है। शुद्ध अर्थात् पवित्र और पापों से रहित है, सूक्ष्मदर्शी सर्व द्रष्टा और उपदेष्टा तथा मनीषी अर्थात् सब जीवों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता, परिभूः सर्वोपरि वर्त्तमान, स्वयंभूः अर्थात् अजन्मा है वही अनादि काल से सब पदार्थों को ठीक २ रचता है अथवा अनादि जीवों के लिये यथावत् उपदेश करता है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव तेऽतमो य उ विद्यायाᳪ रता ॥९॥

जो मनुष्य ज्ञान काण्ड की उपेक्षा करके केवल कर्म का सेवन करते हैं वे गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो लोग कर्म की उपेक्षा करके केवल (विद्यायाम्) अर्थात् ज्ञान में ही रमण करते हैं वे उससे भी अधिक अन्धकार को प्राप्त होते हैं। इस लिये उपासक को ज्ञान पूर्वक ही कर्म करने चाहिये।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुर विद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥*

वेद—ज्ञान से और प्रकार के फल प्राप्ति का वर्णन करते हैं। और कर्म से और प्रकार के फल प्राप्ति का वर्णन करते हैं।

---

*नोट—इस मन्त्र से कोई २ वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध करते हैं किन्तु वह ठीक नहीं है। यहां इसका यही तात्पर्य है कि गुरुओं को अपने

ऐसा हम उन ध्यान शील पुरुषों का वचन सुनते आ रहे हैं। जो हमारे लिये उन वचनों का व्याख्यान पूर्वक कथन करते रहे हैं।

अब विद्या और अविद्या की साथ २ उपासना से ही अमृत लाभ होता है। इसका वर्णन करते हैं।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदो भय ँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

जो मनुष्य विद्या को और अविद्या को अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों को साथ २ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्म काण्ड के अनुष्ठान से निर्मलान्तः करण वाला पुरुष मृत्यु को तर कर विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूति मुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ँ रताः ॥१२॥

परमेश्वर को छोड़ कर जो लोग (असम्भूति) कारण प्रकृति की उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं, उनसे अधिक वे अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं जो (सम्भूति) कार्य प्रकृति अर्थात् पृथिव्यादि के विकार पाषाणादि कार्य जगत् की ईश्वर भावना से उपासना करते हैं।

शिष्यों के लिये इस प्रकार ही प्रति पादन करना चाहिये कि "वेद के व्याख्याता ज्ञान और कर्म का पृथक् २ ही फल निरूपण करते आ रहे हैं"—अर्थात् परमात्मा यह उपदेश देता है कि जब २ आचार्य अपने शिष्यों को उपदेश दें तब २ इस प्रकार कह कर समझावें कि अनादि गुरु परम्परा से हम वेद का व्याख्यान इसी प्रकार श्रवण करते आ रहे हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

कार्य जगत् की उपासना से और फल कहते हैं, और जड़ कारण की उपासना से और फल प्राप्त होता है। ऐसे हम धीर पुरुषों के वचन सुनते आते हैं जो विद्वान् हमारे लिये उन वचनों का व्याख्यान करते रहे हैं।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृत मश्नुते ॥१४॥

जो मनुष्य कार्य रूप प्रकृति और विनाश अर्थात् कारण रूप प्रकृति इन दोनों को साथ २ जानता है वह (विनाश) कारणात्मक प्रकृति के ज्ञान से मृत्यु को तर कर कार्य शरीर से ही अमृत पद को प्राप्त होता है—इसका आशय यह है कि प्राकृतिक तत्व ज्ञान के विना आत्मा और ईश्वर का विवेक नहीं हो सकता, इस लिये जब मनुष्य प्रकृति की वास्तविकता को जान लेता है तब जन्म मरण के बन्धन से छूट कर इस शरीर से ही जीवन मुक्त दशा को प्राप्त करके ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान मनुष्य को क्यों नहीं होता।

उत्तर—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वंम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

चमकीले सुवर्णादि के पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ

है। हे सबके पोषक परमात्मन्! तू उस सत्य स्वरूप के दर्शन के लिये उस पड़दे को हटा दे। इसका यह आशय है कि धनका लालच ही मनुष्य को सत्य पक्ष से डिगा देता है। धनके लोभ से मनुष्य बुरे से बुरा काम कर डालता है। ऐसी दशा में सत्य स्वरूप भगवान् का दर्शन मनुष्य को कदापि नहीं हो सकता, इस लिये मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मन्! आप उस ढक्कन को हटादें, जिससे उस अविनाशी प्रभु के दर्शन हो सकें, (यहां सत्य शब्द धर्म और ईश्वर दोनों का वाचक है)

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्यव्यूह रश्मीन्समूह। तेजोयत्ते रूपं-कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥*

हे सब के पुष्ट करने वाले! हे एक द्रष्टा! हे न्यायकर्त्ता! हे सर्व प्रेरक अन्तर्यामिन्! हे प्रजा रक्षक राजाधिराज परमेश्वर! आप अपनी किरणों को फैला दें, और अपने तेज को इकट्ठा करके मेरे दर्शन योग्य बना दें, ताकि आपकी कृपा से आप के अति कल्याणकारी रूप का साक्षात्कार कर सकूं, जो वह पुरुष है वह मैं हूँ। अर्थात् आप मुझे इस योग्य बना दें कि मैं आपके प्रेम में इतना मग्न होजाऊँ जो आप से भिन्न अपने को न देख सकूं।

---

* योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि पद से कोई अद्वैतवाद का समर्थन करते हैं। और कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप ईश्वर से भिन्न नहीं है यह ठीक नहीं है क्योंकि स्वरूप अन्य का अन्य नहीं हो सकता, हाँ, शुद्ध प्रेम की भावना से लोक में यह तो कहा जाता है कि मैं और आप एक ही हैं। वही भाव यहां है।

अब देहावसान समय में मनुष्य को क्या कर्त्तव्य है सो कहते हैं।

वायुरनिलममृत मथेदं भस्मान्त ँ शरीरम् ।
ओं क्रतोस्मर, क्लिवे स्मर, क्रत ँ स्मर ॥ १७ ॥

वातिगच्छति शरीरान्तरमिति वायुः न विद्यते इलापृथ्वी तद्विकारो वायस्मिन् सजीवः। अर्थात् शरीरान्तरों में जानेके कारण जीव का विशेषण यहाँ वायु शब्द है, और जिसमें पृथ्वी आदि का विकार नहीं है इस कारण जीव का नाम अनिल है—अर्थ यह हुआ कि अनेक शरीरों में आने जाने वाला जीव अमृत है मरण रहित अर्थात नित्य है परन्तु यह शरीर केवल भस्म पर्यन्त है इस लिये अन्त समय में हे क्रतो! हे जीव, ओ३म् स्मर, ओ३म् का स्मरण कर बल प्राप्ति के लिये परमात्मा का स्मरण कर, क्रतं स्मर, अर्थात् अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम ॥ १८ ॥

हे अग्ने प्रकाश स्वरूप हे देव! दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मन्! आप हमारे सम्पूर्ण कर्मों के जानने वाले हैं, इसलिये ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये हम को अच्छे मार्ग से चलाइये। और हमको उल्टे मार्ग पर चलनेरूप पाप से दूर कर दीजिये, हम आपको बार २ नमस्कार करते हैं।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

केनोपनिषद्

प्रथम खण्डः ।

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः ? केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः ।
केनेषितां वाच मिमां वदन्ति ? चक्षुःश्रोत्रंकउदेवोयुनक्ति ॥१॥

शिष्य आचार्य से प्रश्न करता है कि हे!आचार्य! यह मन किस की प्रेरणा से अभीष्ट वस्तुओं की तरफ़ जाता है। और मुख्य प्राण किस से युक्त होकर चलता रहता है ? मनुष्य वाणी को किसकी प्रेरणा से बोलते हैं ? और कौन वह देवता है जो आंख और कान को अपने कार्य में लगाता है ? अर्थात् इन्द्रियों का चलाने वाला संसार में कौन सा देव है शिष्य के पूछने का यही तात्पर्य है।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनोयद्वाचो ह वाचꣳस उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृताभवन्ति ॥२॥

आचार्य ने उत्तर दिया कि हे शिष्य ! सारी इन्द्रियों के प्रेरणा करने वाला परमात्मा है, वह कान का कान है, मन का मन है, निश्चय ही वाणी का वाणी है, वह प्राण का प्राण है, आंख की आंख है, धीर पुरूष ऐसा जानकर इसलोक से मर कर अमृत अर्थात् मुक्त होजाते हैं आशय यह है कि यद्यपि आत्मा की शक्ति से ही शरीर में सारी इन्द्रियें काम करती हैं फिर भी इन इन्द्रियोंको परमात्मा की सहायता अपेक्षित है क्योंकि इनकीरचना उसने ही की है, जिन २ विषयों के ग्रहण करने की इनमें सामर्थ्य है वह उसी प्रभु

ने इनमें उत्पन्न की है, आंख का प्रेरक आत्मा है परन्तु विना सूर्य के आंख कुछ नहीं कर सकती, विना पृथ्वी के नाक, विना आकाश के कान, विना जल के रसना, इसी प्रकार सारे विषयों का ग्रहण परमात्मा की सामर्थ्य से ही होता है।

अब उस ब्रह्म का वर्णन करते हैं।

न तत्र चक्षुर्गच्छति, नवाग्गच्छति, नो मनो, नविद्मो न विजानीमो, यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि, इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्या चचक्षिरे॥३॥

उस ब्रह्म में आंख नहीं जाती—न वाणी जाती है, न मन जाता है न हम जानते न समझते हैं कि इस दशा में किस प्रकार कोई इसका उपदेश करे क्योंकि जो पूर्वज उसका व्याख्यान कर गये हैं वे बताते हैं कि वह ब्रह्म जाने हुए से भी निराला है और अज्ञात से भी भिन्न है।

तो क्या हम उसे तर्क से नहीं जान सकते? इसका उत्तर देते हैं।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥४॥

जो ब्रह्म वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता, अपितु जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसी को तू ब्रह्म समझ, तर्क द्वारा जिसे सिद्ध किया जाता है वह ब्रह्म नहीं है। क्योंकि तर्क की शक्ति तो चक्षु और बुद्धि तक ही सीमित है, जो वस्तु बुद्धि में आ ही नहीं सकती वहां तर्क क्या करेगा, वाणी प्रत्येक

दृश्य और परिच्छिन्न वस्तु का वर्णन कर सकती है परन्तु ब्रह्म न परिच्छिन्न है न साकार है फिर वाणी किसका निर्देश करे, हां ब्रह्म की शक्ति से. जिह्वा में प्रकट करने की सामर्थ्य है, परमात्मा ने वाणी के बोलने के लिये जैसे २ मुख में स्थान प्रयत्नादि नियत कर दिए हैं। उनही नियमों में बंधी हुई वाणी बोलती है, उससे विपरीत नहीं बोल सकती, इस लिये ब्रह्म वही है जिसने वाणी की रचना की है किन्तु वाणी उसे कह नहीं सकती।

क्या मनसे उसका मनन नहीं किया जा सकता ?

उत्तर—नहीं।

यन्मनसा नमनुते येनाहुर्मनोमतम् ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

जो ब्रह्म मनसे मनन नहीं करता, और न जिसको मनसे जाना जा सकता है किन्तु जिसकी शक्ति से मन संकल्प विकल्प करता कहा जाता है। तू उसी को ब्रह्म समझ, जो समझते हैं कि मन की कल्पना से हमने उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया सो वह ब्रह्म नहीं है—क्योंकि परिमित मन-अपरिमित, और अनन्त गुणों वाले ब्रह्म का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है। मनकी कल्पना तो इन्द्रिय गोचर पदार्थों तक ही रहती है, किन्तु वह तो इन्द्रियागोचर है वहां भला मनकी पहुँच कहां है।

यच्चक्षुषा नपश्यति येनचक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

जो ब्रह्म आंख से नहीं देखता अथवा जिसको हम आंख से नहीं देख सकते किन्तु जिससे ये नेत्र देखते हैं—तू उसी को ब्रह्म जान—वह ब्रह्म नहीं है जिसकी साकार वादी मूर्ति बनाकर उपासना करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर निराकार है, शरीर रहित है, निरिन्द्रिय है इसलिये वह आँख से नहीं देखता, किन्तु ज्ञानस्वरूप होने से उसे सबका ज्ञान है आँखें उसी की शक्ति से देखती हैं, आचार्य ने कहा तू उसी को ब्रह्म समझ—ब्रह्म साकार नहीं है ।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येनश्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

जो कान से नहीं सुनता, किन्तु जिसकी शक्ति से कान सुनता है। अर्थात् जिसने कान को सुनने की शक्ति दी है उसी को तू ब्रह्म जान, केवल शब्द जाल से उसका वर्णन नहीं हो सकता, परमात्मा के यद्यपि कान नहीं हैं तथापि वह सब कुछ सुनता है और उसी ने कान इन्द्रिय को बनाया है, बस तुम उसी को ब्रह्म जानो। शब्द मात्र से उपासना करने से वह प्राप्त नहीं हो सकता ।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

जो ब्रह्म श्वास लेकर नहीं जीता, किन्तु जिसकी शक्ति से श्वास आता जाता है, तू उसी को ब्रह्म समझ । प्राणोपासक जिसको ब्रह्म समझते वह ब्रह्म नहीं है ।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खण्डः ।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं ।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१॥

आचार्य शिष्य से कहते हैं कि हे शिष्य! यदि तू ऐसा मानता है कि ब्रह्म को ठीक २ जानता हूँ तो निश्चय ही तू ब्रह्म के स्वरूप को अल्प जानता है—इसके स्वरूप को तू और विद्वान् लोग भी बहुत कम जानते हैं—इस लिये मेरी सम्मति में तो तुझे इसका सदैव मनन ही करना चाहिये—तभी वह जाना जायगा। आचार्य का मतलब यह है कि अनन्त ब्रह्म के ज्ञान का अभिमान करना मूर्खता का काम है—मनुष्य की अल्प मति में वह कदापि नहीं आ सकता जो यह अभिमान करता है वह बहुत ही कम जानता है इस लिये तुझे हर समय श्रद्धा-पूर्वक उसी की मीमांसा ही करनी चाहिये अभिमान मत कर।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥२॥

आचार्य के कथन को सुन कर शिष्य ने कहा—"कि हे आचार्य! मैं यह नहीं मानता कि मैं ब्रह्म के स्वरूप को भली प्रकार जानता हूँ और न मैं यह मानता हूँ कि नहीं जानता, किन्तु जानता हूँ। हम में से जो उस को जानता है वह यही समझता है कि मैं उसको यद्यपि नहीं जानता तथापि जानता हूँ।" आशय यह हुआ कि शिष्य ने कहा कि हे आचार्य! मुझे ब्रह्मज्ञान का अभि-

मान तो नहीं है, फिर भी मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि ब्रह्म अनन्त शक्तिमय है, अर्थात् उसकी सत्ता का मुझे ज्ञान है किन्तु उसके ज्ञान का मुझे अभिमान नहीं है।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतां ॥३॥

जो मनुष्य समझता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वह जानता है जो समझता है मैं जानता हूँ—वह वस्तुतः नहीं जानता, ज्ञानियों से वह अज्ञात है और न जानने वाले उसे जानते हैं।

अर्थात जो लोग श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा उसके साक्षात् करने की चेष्टा करते हैं वे ही उसे जान पाते हैं ज्ञान का अभिमान करने वाले उसे नहीं जान सकते।

प्रतिबोध विदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥

प्रतिबोध अर्थात् बार बार जानने और मनन करने से वह ब्रह्म जाना जाता है और ऐसा मनुष्य अमृत अर्थात मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। मनुष्य अपनी आत्मा से बल प्राप्त करता है और ब्रह्मविद्या से ब्रह्म को प्राप्त करता है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदीहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

यदि इसी जन्म में ब्रह्म को जान लिया तो सत्य अर्थात् जीवन सफल हो गया, यदि न जाना तो बड़ी भारी हानि हुई

(क्योंकि क्या पता फिर यह जन्म मिले या न मिले) । धीर पुरुष संसार के प्रत्येक कण कण में प्रभु की सत्ता को देख कर इस लोक से मरने के अनन्तर अक्षय सुख अमृत को प्राप्त होते हैं ।

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

तृतीय खण्डः ।

इस खण्ड में अलङ्कार रूप से भगवान् का वर्णन किया गया है ।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त । त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१॥

निश्चय ही, ब्रह्म ने अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी आदि देवों के ऊपर विजय प्राप्त की, अर्थात् इन पञ्च भूतों से परमात्मा ने सृष्टि की रचना की—उस भगवान् की विजय में देवता महिमायुक्त हुए—उन देवों ने विचारा कि यह विजय हमारी ही है । अर्थात् परमात्मा ने जब सृष्टि रची तब अग्नि आदि देवों में शक्ति स्थापित की, किन्तु देवों ने समझा कि यह जगत् की रचना हमारी ही महिमा है हम से भिन्न ईश्वर कोई नहीं है ।

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव ।
तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥२॥

वह ब्रह्म इन देवों के अभिमान को जान गया और तब वह इन पर प्रकट हुआ, परन्तु उन्होंने उसे न जाना कि यह यक्ष अर्थात् पूजनीय कौन है ।

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि ।
किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥३॥

उन देवों ने अग्नि से कहा कि हे जातवेद ! जानो तो सही कि यह यक्ष कौन है ? अग्नि ने कहा—बहुत अच्छा ।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा ।
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४॥

तब दौड़ कर अग्नि उसके पास पहुँचा, यक्ष ने अग्नि से पूछा कि तू कौन है ? वह बोला—मैं अग्नि हूँ जातवेदा हूँ ।

यस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीद५ ।
सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥५॥

अच्छा तो—यक्ष ने पूछा तुझ में क्या शक्ति है ? अग्नि ने कहा कि पृथ्वी की सम्पूर्ण चीजों को मैं जला दूँ मेरे अन्दर यह शक्ति है ।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुम् । स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥६॥

यक्षने उसके आगे एक तिनका रखा और कहा कि इसे जला ! अग्नि पूरे वेग से उसके पास गया, सारी शक्ति लगाई परन्तु उसको न जला सका—वह अग्नि वहीं से लौट पड़ा, और बोला कि मैं इसको न जान सका कि यह यक्ष कौन है ।

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥७॥

देव तब वायु से बोले कि हे वायो ! तुम देखो कि यह यक्ष कौन है । वायु ने कहा—बहुत अच्छा ।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥८॥

वायु उसके पास दौड़ कर गया, यक्ष ने उससे पूछा कि तू कौन है ? उसने कहा—मैं मातरिश्वा हूँ ।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥९॥

यक्ष ने पूछा—तुझ में क्या शक्ति है ? वायु ने कहा—जो कुछ पृथ्वी पर है मैं सबको उड़ा दूं—मुझ में यह शक्ति है ।

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥१०॥

यक्ष ने उसके आगे तिनका रखा, और कहा इसको उड़ा वह सारे वेग से उसके पास पहुँचा, परन्तु उस तिनके को न उड़ा सका । तब वह वहीं से लौट पड़ा और देवों को बोला कि मैं इसको नहीं जान सका जो यह यक्ष है ।

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति ।
तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥११॥

देव गण तब इन्द्र से बोले कि हे मघवन् ! देखो तो सही यह यक्ष कौन है—इन्द्र ने कहा बहुत अच्छा—वह उसके पास दौड़ कर आया—परन्तु यक्ष उससे छिप गया ।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताᳪं होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥१२॥

वह इन्द्र उसी आकाश में अति शोभावाली सुवर्ण से भूषिता उमा नाम की स्त्री से मिला और उसको कहा कि यह यक्ष कौन है ?

यह वर्णन आलङ्कारिक भाषा में किया गया है, यहां अग्नि और वायु से आँख, कान और त्वगिन्द्रिय इन तीनों का ग्रहण है। आशय यह है कि ब्रह्म के जानने में ये तीनों इन्द्रियां समर्थ न हो सकीं, क्योंकि ब्रह्म रूप रहित है इसलिये आंख उसे देख नहीं सकती और साकार न होने से उसे छू नहीं सकते और इसीलिये केवल शब्द से भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता—इस दशा में इन्द्रियों ने अपने अधिपति इन्द्र अर्थात् आत्मा से कहा कि आप जानिये कि यह यक्ष कौन है अकेले आत्मा ने उस प्रभु का ज्ञान प्राप्त करना चाहा किन्तु वह अति सूक्ष्म होने से उसे दिखाई न पड़ा, तब आत्मा को इस उलझन से निकालने वाली उमा अर्थात् मेधा बुद्धि दिखाई पड़ी, वह बुद्धि ब्रह्मविद्या रूपी अलङ्कारों से भूषित थी, उस बुद्धि ने ही आत्मा को बताया कि यह यक्ष कौन है, आशय यह हुआ कि ये स्थूल इन्द्रियां तो उसे प्राप्त कर ही नहीं सकतीं, किन्तु आत्मा भी बिना सूक्ष्म बुद्धि की सहायता के उस अविनाशी प्रभु का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, इसी अलङ्कार से यह भी विदित होता है कि तत्वों में प्रधान अग्नि और वायु तत्व भी उसी की सामर्थ्य से शक्ति प्राप्त करते हैं।

अन्यथा स्वयं इन में एक तिनके को जलाने और उड़ाने तक की सामर्थ्य नहीं है ।

तृतीय खण्ड समाप्त ।

चतुर्थ खण्डः ।

सा ब्रह्मेति हो वाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्व-मिति । ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥१॥

वह उमा इन्द्र से बोली—कि यह ब्रह्म है और ब्रह्म की इस विजय में तुम महिमा युक्त बनो, अर्थात् उस की शक्ति से महिमा प्राप्त करो—उमा के इस कथन से ही इन्द्र ने जाना कि यह ब्रह्म है ।

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायु-रिन्द्रस्ते ह्येनं नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥२॥

इसलिये अग्नि वायु इन्द्र ये सब देवों में बड़े हैं क्योंकि ये ही इस ब्रह्म को निश्चय पास से छू पाए हैं, निश्चय इन्होंने ही प्रथम जाना कि यह ब्रह्म है ।

यहाँ उपनिषद् में दो पक्ष प्रकट किए गये हैं एक अध्यात्म और दूसरा अधिदैवत—अध्यात्म पक्ष में तो इन्द्रिय और आत्मा का ग्रहण होता है, और अधिदैवत में अग्नि, वायु और सूर्य का ग्रहण होता है—आशय यह है कि आँखों से भगवान् की विभूति देख कर और कानों से सुन कर ही आत्मा को भगवान् का ज्ञान होता है; इसी तरह नास्तिक जन भी अग्नि, वायु और सूर्य की

सामर्थ्य को देख कर ही परमात्मा के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करते हैं। ये ही तत्व देव नाम से ग्रहण किये जाते हैं।

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥३॥

इसी लिये देवों में भी इन्द्र ही सब से बढ़ कर है—क्योंकि उसी ने सब से समीप उसे जाना, और इसी ने सब से पहिले पता लगाया कि यह ब्रह्म है अर्थात इन्द्रियों में भी आत्मा ही सब से बड़ा देव है क्योंकि इसी ने बुद्धि के द्वारा सब से प्रथम ब्रह्म को जाना। अधिदैवत पक्ष में सूर्य ही सब भौतिक देवों में बड़ा देव है क्योंकि मनुष्य की सारी बुद्धि उसको न जान कर अन्त में यही विचार करती है कि इसका रचयिता अवश्य कोई अनन्त शक्तिमय प्रभु है।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतोयद्युतदा ३ इतीति न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥४॥

देवों में ब्रह्म का चिन्ह ऐसा ही चमकता है जैसे बिजली का चमकना और आंखों का झपकना है—अर्थात् जैसे बिजली या आंख बहुत न्यून समय के लिये चमकती या झपकती हैं इसी प्रकार इन्द्रियां भी उसका साक्षात्कार बहुत कम कर सकती हैं। उसका ज्ञान तो सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही हो सकता है—यही अधिदैवत पक्ष है—

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥५॥

अध्यात्म पक्ष यह है कि– यह जो मन चलता सा मालूम देता है। इससे बार २ लगातार उस ब्रह्म को स्मरण करे और उसी का सङ्कल्प करे—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवांछन्ति ॥६॥

निश्चय ही ब्रह्म भजनीय है, इस लिये सेवनीय ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये, जो मनुष्य उसे ऐसा जानकर उसकी आराधना करता है। उसको सभी प्राणी चाहते हैं और प्यार करते हैं।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता य उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥७॥

आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य तुमने जो उपनिषद् पूछी थी सो तुमको उपनिषद् कह दी—निश्चय तुझे ब्रह्म सम्बन्धिनी उपनिषद् का व्याख्यान कर दिया, उपनिषद् का अर्थ है जिससे ब्रह्म की समीपता प्राप्त हो—सो तुझको उसका व्याख्यान कर दिया।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्य मायतनम् ॥८॥

ब्रह्म की समीपता प्राप्त करने के लिये (तप) सहन शीलता (दम) इन्द्रियों का संयम, मन का वशीकरण (कर्म) वैदिक कर्मानुष्ठान यही उसकी प्रतिष्ठा है। वेद उसके सारे अङ्ग हैं—सत्य उसका स्थान है—अर्थात् इन्हीं साधनों से मनुष्य

ब्रह्म का सामीप्य प्राप्त कर सकता है—ब्रह्म विद्या का स्थान सत्य है, क्योंकि ब्रह्म सत्य है—इस लिये सत्यव्रती ही ब्रह्म विद्या का अधिकारी होता है—

योवा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥९॥

जो मनुष्य निश्चय ही इस ब्रह्म विद्या को जानता है वह पाप को दूर करके चिरकाल तक ब्रह्म आनन्द का उपभोग करता है—यही ज्येष्ठ स्वर्ग लोक है।

॥ चतुर्थ खंड समाप्तः ॥

* केनोपनिषद् समाप्तः *

कठोपनिषद् भाष्य।

प्रथमेऽध्याये प्रथमा वल्ली।

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

यह एक इतिहास है कि—मुक्ति की इच्छा रखने वाले वाजश्रवस ऋषि ने अपने सब धनादि पदार्थ को यज्ञ द्वारा दे डाला, अर्थात् सर्व मेध नामक यज्ञ किया, (जैसा कि विधान है कि संन्यास धारण करने वाला मनुष्य सर्वमेध नामक यज्ञ करे और उसी यज्ञ में सब पदार्थों को दे डालना चाहिये) उस का नचिकेता नामक पुत्र था।

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत ॥२॥

उस समय कुमार दशा में ही जब यज्ञ की दक्षिणा में गौओं का विभाग होने लगा तब उस नचिकेता के अन्दर श्रद्धा उत्पन्न हुई तब उसने विचारा कि—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥३॥

वह मनुष्य सुख भोग साधन हीन अर्थात् दुःख साधनयुक्त स्थानों को प्राप्त होता है जो दक्षिणा में ऐसी गौएं देता है जोकि जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं, दूध दे चुकी हैं और बच्चे देने में असमर्थ हैं अर्थात् बूढ़ी हैं—आशय यह है कि वाजश्रवस ने सर्वमेध यज्ञ की दक्षिणा में बूढ़ी गौएं भी दान में दे डालीं, तब नचिकेता ने विचारा कि ऐसी बूढ़ी गायों के देने से तो उत्तम फल पिता को प्राप्त न होगा, हां यदि वह मुझे दे डालता तो उत्तम होता ।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

ऐसा विचार कर वह पिता से बोला कि हे तात ! मुझे किस को दोगे—यह बात उसने दुबारा और फिर तिबारा कही, तब पिता ने कहा कि मैं तुझे मृत्यु अर्थात् यमराज को देता हूँ । यहाँ मृत्यु शब्द से यमाचार्य नामक आचार्य का ग्रहण है, इससे मौत अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि यदि मृत्यु का ग्रहण होता तो आगे

का आना जाना और वरदानादि कथा ठीक नहीं बैठ सकती ।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

बहुत मनुष्यों में मैं प्रथम हूँ, अर्थात् उत्तम हूँ और बहुतों में मध्यम हूँ, मुझ से यम का क्या कार्य सिद्ध होगा, अर्थात् नचिकेता ने मन में विचारा कि मैं किसी से उत्तम किसी से मध्यम हूँ, किन्तु निकृष्ट किसी से भी नहीं हूँ तब पिता ने मुझे मौत के लिये क्यों दिया, नचिकेता के हृदय में मृत्यु से डर नहीं था किन्तु पिता के वियोग का दुःख अवश्य था । पिता के हृदय में भी इस बात का दुःख था कि पुत्र को क्रोध में जो कह दिया उसका पालन अवश्य मुझे करना चाहिये, किन्तु वह पुत्र को अपने से वियुक्त नहीं करना चाहता था, यह देख कर नचिकेता ने कहा:--

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य यथा परे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

पूर्व पुरुष पिता पितामह आदिकों ने जैसा धर्माचरण किया है उसको (अनुपश्य) विचार कीजिये, इसी प्रकार (परे) अर्थात् वर्त्तमान् धर्मात्माजन (प्रतिपश्य) अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हैं आप भी उसी प्रकार करें अर्थात् आपने मुझे मृत्यु को देने की प्रतिज्ञा की है सो उसे पूर्ण कीजिये । प्रतिज्ञा से विरुद्ध करके कोई अमर नहीं होता, क्योंकि मनुष्य खेती के समान जीर्ण होता है अर्थात् वृद्धावस्था को प्राप्त होकर मर जाता

है और मर कर खेती के समान पुनः उत्पन्न होता है अतः ऐसे अनित्य शरीर को पाकर मनुष्य को कभी भी असत्य नहीं बोलना चाहिये ।

नचिकेता की इस बात को सुन कर पिता ने उसे यमाचार्य के पास जिसका दूसरा नाम मृत्यु प्रसिद्ध था भेज दिया ।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताᳫं शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

नचिकेता जिस समय यम के गृह पर पहुँचा उस समय आचार्य वहां नहीं थे स्त्री आदि के कहने पर भी नचिकेता ने भोजनादि कुछ नहीं किया और बिना भोजन पान के तीन दिन तक घर पर पड़ा रहा, जब तीसरे दिन आचार्य आए तो उनकी भार्या ने आचार्य से कहा कि—

आपके घर में अग्नि के समान कान्तियुक्त ब्राह्मण अतिथि आया हुआ है! सज्जन लोग ऐसे अभ्यागत की शान्ति करते हैं इसलिये आप जल आदि सत्कार की सामग्री को लीजिये और उसकी पूजा कीजिये ।

आशाप्रतीक्षे संगतᳫं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूᳫंश्च सर्वान् ।
एतद्वृंक्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

आचार्य की भार्या आदि ने और भी कहा कि—जिस पुरुष के घर में भोजनादि न करके ब्राह्मण अतिथि वास करता है, उस निर्बुद्धि की आशा और इष्ट वस्तु की प्राप्तिरूप प्रतीक्षा (सङ्गत) अर्थात् सत्सङ्गति से होने वाला फल, (सूनृता) दयापूर्वक

कही गई सच्ची वाणी और इष्टापूर्त्त यज्ञादि वैदिक कर्म और आपूर्त्त वापी कूप तड़ागादि का निर्माण, पुत्र और पशु इन पूर्वोक्त आशादि के सारे फल को वह अतिथि नष्ट कर देता है इसलिये श्रेष्ठ अतिथि का सत्कार अवश्य करना चाहिये ।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥९॥

अपनी स्त्री आदि के ये वचन सुन कर यमाचार्य ने नचिकेता से कहा हे ब्रह्मन्, ब्रह्मधर्मस्थ ! तू अतिथि पूजा करने के योग्य है । मेरे घर पर बिना भोजन किये जो तू तीन रात रहा है सो उसके प्रत्येक के बदले में एक २ वर मांग ले, हे ब्रह्मवित् ! तुझे नमस्कार हो; तेरी कृपा से मेरा कल्याण हो ।

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

वैवस्वत यम के आदर को प्राप्त करके नचिकेता ने कहा हे मृत्यो ! आचार्य !! मेरा पिता गौतम शान्त सङ्कल्प और प्रसन्न मन जैसे हो, और मेरे प्रति क्रोध रहित हो, एवं आपके यहाँ से वापिस जाने पर मुझ को जाने और मुझ से वार्त्तालाप करे यही तीनों वरों में से पहिला वर मैं आप से माँगता हूँ ।

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११॥

आचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! तुझे मेरे यहाँ से वापिस जाने पर औद्दालकि आरुणि तुम्हारे पिता पहिले के समान ही

तुझ से प्रसन्न होंगे वह सुख पूर्वक रात को सोयेंगे क्रोध रहित हो जायेंगे और तुम को मरण के भय से मुक्त हुए देखेंगे ।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

स्वर्ग लोक अर्थात् जो स्थान सर्वोत्तम सुख के साधन हैं वहाँ भय के साधन चौर और रोगादि सर्वथा नहीं होते, जहाँ वृद्धावस्था के दौर्बल्य दुःख से कोई प्राणी नहीं डरता है, उस स्थान में भूख और प्यास को अतिक्रमण करके शोक रहित होकर मनुष्य परम प्रसन्न होता है, उस स्वर्ग लोक को मैंने सुना है सो आप मुझ से कहिये ।

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहितꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

नचिकेता ने फिर कहा कि—हे मृत्यो ! यमाचार्य ! सो आप स्वर्ग प्राप्ति का साधन अग्निहोत्रादि रूप यज्ञ को जानते हैं, सो जिस से स्वर्ग लोक अर्थात् यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले जन (अमृत*) दीर्घ जीवनादि सुख को प्राप्त करते हैं उसी को श्रद्धा रखते हुए मेरे लिये कहिये, यह मैं द्वितीय वर मांगता हूँ—प्रथम वर में नचिकेता ने पिता की सेवा और प्रसन्नता मांगी और दूसरे वर में जन्मान्तर सम्बन्धी उत्तम स्वर्ग लोक की प्राप्ति के साधनों का ज्ञान मांगा—

---

* अमृत शब्द का अर्थ यहां दीर्घ जीवनादि ही है लोक में इस के लिये भी अमृत शब्द का प्रयोग होता है ।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निनचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्त लोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१४॥

यमाचार्य बोले कि हे नचिकेतः ! स्वर्ग के हितकारी उस अग्नि को जानता हुआ मैं तेरे लिये कहता हूँ—तू मेरे वचन को सावधान होकर सुन, अनन्त लोक को व्याप्त करने वाली और सब संसार की स्थिति का साधन इस अग्नि को आत्मा की शक्ति रूप बुद्धि में स्थिति समझ—अर्थात् जो अग्नि जगत की उत्पत्ति विनाश स्थिति का हेतु है वही यज्ञ का मुख्य साधन है ।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युःपुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

महर्षि कठ कहते हैं कि तदनन्तर यम ने लोक के आदि कारण उस अग्नि का नचिकेता के आगे पूरा २ व्याख्यान किया, उस अग्निहोत्रादि यज्ञ के लिये जैसी और जितनी और जिस प्रकार से कुण्डादि में ईंटों का चयन किया जाता है वह सब बताया और नचिकेता ने भी आचार्य के कथनानुसार प्रत्यक्षर अनुवाद कर सुनाया, तब सन्तुष्ट होकर यम फिर बोले ।

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृंकां च मामनेकरूपां गृहाण॥१६॥

नचिकेता की बुद्धि से प्रसन्न हुए आचार्य ने पुनः कहा कि हे नचिकेतः ! तुझे मैं फिर भी इस समय और वर देता हूँ कि वह अग्नि तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगा, इस चित्र विचित्र पुष्प माला को तू ले ।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्म मइंदेवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शांतिमत्यन्तमेति ।१७।

जो मनुष्य नचिकेतः! अग्नि से ब्रह्मचर्यादि तीन आश्रमों में यज्ञ करता है और माता, पिता, आचार्य इन तीनों से सन्धि अर्थात् शिक्षा को प्राप्त करके गृहस्थाश्रम में अग्निहोत्रादि यज्ञ ब्रह्मचर्य में वेदाध्ययन और संन्यास में सवस्वदान रूप तीन कर्मों को करता है वह जन्म और मृत्यु को तर जाता है—और (ब्रह्मजज्ञं) अर्थात् जिस से वेद उत्पन्न हुआ है ऐसे स्तुति करने योग्य (देव) प्रकाशमान परमात्मा को जान कर और (निचाय्य) शास्त्र से निश्चय करके वह मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है ।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके ॥१८॥

ब्रह्मचर्यादि तीन आश्रमों में नाचिकेत अग्नि का जिस ने तीन बार सञ्चय किया हो ऐसा मनुष्य जो पूर्वोक्त तीनों को जानता है और जो विद्वान् पुरुष नाचिकेत यज्ञ के फल को सञ्चित करता है वह मृत्यु के पाश को शरीर त्याग से पूर्व ही छोड़ कर शोक रहित हुआ मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग लोक में आनन्द पाता है ।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैवप्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व।१९

हे नचिकेतः ! यह स्वर्ग का साधन पूर्वोक्त अग्नि

होत्रादि यज्ञ का विधान तुम्हारे लिये कहा गया । जिसको तुमने दूसरे वरसे मांगा था—तुम्हारे ही नाम से लोग इस अग्नि को कहा करेंगे—हे नचिकेतः ! अब तुम तीसरा वर मांगो ।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

हे यमाचार्य ! मनुष्य के मर जाने पर कोई तो कहते हैं कि शरीरस्थ जीवात्मा नित्य है और कोई कहते हैं कि आत्मा नहीं है—आपसे उपदेश प्राप्त करके मैं जिस प्रकार इस आत्म विद्या को जान सकूं । वरों में तीसरा मेरा अभीष्ट वर यही है यही दीजिये ।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

यम बोले—मृत मनुष्य के विषय में पूर्व काल में विद्वानों ने भी बहुत संशय किया है । अतएव यह विषय सुगम नहीं है । अति सूक्ष्म है । हे नचिकेतः ! इसको छोड़ कर तुम दूसरा वर मांग लो, मुझे ऋणी के तुल्य मत दबाओ इस वर को मेरे प्रति छोड़ दो ।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

नचिकेता बोले—हे आचार्य ! जब विद्वान् देवों ने भी इस विषय में पहिले संशय किया है, और आप भी इसको सुगम नहीं बताते हैं तब निश्चय ही यह वर अति कठिन है—और

इस वरका उपदेश मुझको आपके तुल्य नहीं मिल सकता और न इसके समान दूसरा कोई वर हो सकता है ।

नचिकेता की हठ देख कर अधिकारी की परीक्षा के लिये आचार्य उसको प्रलोभन देते हैं ।

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

हे नचिकेतः ! तुम सौ सौ वर्ष की अवस्था वाले पुत्र और प्रपौत्रों को मांगलो—बहुत से पशु हाथी, सोना, घोड़े वर में ले लो, पृथ्वी के बड़े भाग माण्डलिक राज्य को मांगो और स्वयं भी जितना चाहो जीवन प्राप्त करलो ।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

और इसके समान यदि किसी वर को समझते हो तो वह मांग लो धन और चिरकाल की जीविका को मांगो—हे नचिकेतः ! तू इस विशाल भूमि पर राजा बनजा मैं तुमको सब लौकिक उपभोग प्रदान करता हूँ ।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः । आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥२५॥

मनुष्यों में जो २ कामनाएं दुर्लभ हैं, उन सब कामनाओं को स्वतन्त्रता से मांगलो, ये रथों पर चढ़ी हुई जिनके साथ बाजे बज रहे हैं, ऐसी रमण के योग्य स्त्रियां मैं तुमको देता हूँ— ऐसी स्त्रियां मनुष्यों को प्राप्त नहीं हो सकतीं। मुझसे दी हुई इन युवतियों से अपनी सेवा कराओ, किन्तु हे नचिकेतः! मरने के अनन्तर की बात न पूछो।

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्प मेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते ॥२६॥

नचिकेता बोले हे वैवस्वत! मनुष्य के सुख भोग तो कल तक रहने वाले अनित्य हैं। ये ही इन्द्रियों के सारे तेज को नष्ट कर डालते हैं—निश्चय ही मनुष्य का सारा जीवन अल्प है, इस लिये ये हाथी घोड़े आपही को मुबारिक रहें, और यह नाचना गाना भी आपके ही पास रहे मुझे इन नाशवान् पदार्थों की इच्छा नहीं है।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

हे आचार्य! मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता, और आपके दर्शन जब हो गए तब धन की क्या कमी रही, और जब तक आप मेरे रक्षक बने रहेंगे तब तक मेरा जीवन भी रहेगा, (इन तुच्छ बातों को मैं क्या माँगूं) बस वर तो मुझे यही मांगना है जो पहिले मांग चुका।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यःक्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २७ ॥

जरा रहित अमृत लोक को पाकर अर्थात् जीवन मुक्त होकर परमार्थ सुखापेक्षा पृथ्वी पर निकृष्ट दशा में स्थित शरीर और इन्द्रियों के नाश का अनुभव करने वाला, कौन विचारशील मनुष्य लम्बे जीवन में प्रसन्नता मानेगा, अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष कभी लम्बे जीवन की इच्छा नहीं करते ।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महतिब्रूहिनस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

हे मृत्यो आचार्य ! जिस आत्मज्ञान में लोग यह सन्देह करते हैं कि वह है या नहीं, और जो अनन्त मोक्ष दशा में विचार है। उस विवेक को आप मेरे लिये कहिये । जो यह वर गूढ़ है और अन्तः प्रविष्ट है नचिकेता उससे अन्य वर नहीं मांगता—

॥ प्रथमा वल्ली समाप्तः ॥

द्वितीय वल्ली ।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेयआददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते १॥

नचिकेता के आत्मानुराग को देख कर आचार्य बोले हे नचिकेतः ! श्रेयमार्ग अन्य है और प्रेय अर्थात् प्रिय लगने वाला मार्ग और है। ये दोनों मार्ग भिन्न २ प्रयोजन वाले मनुष्य को

वासना रूप रस्सियों से बांधते हैं—इनमें से जो मनुष्य श्रेयमार्ग को ग्रहण करता है उसका कल्याण होता है और जो प्रेय मार्ग अंगीकार करता है वह अपने मार्ग से भ्रष्ट होकर गिर जाता है ।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयोमन्दो योगक्षेमाद्वृणीते२॥

श्रेय मार्ग और प्रेयमार्ग दोनों ही मनुष्य को प्राप्त होते हैं। धीर पुरुष उन दोनों का विवेचन करता है—और निश्चय ही वह प्रेयमार्ग को छोड़ कर श्रेय का ही आश्रय लेता है। और मन्द बुद्धि मनुष्य धनादि पदार्थों में सुख समझ कर प्रेयमार्ग को स्वीकार करता है ।

श्रेय मार्ग से आशय उस मार्ग से है जिससे मनुष्य मोक्ष सुख को प्राप्त करता है, और विषय भोग के साधक मार्ग का नाम प्रेय है, उन दोनों का विवेकी मनुष्य ही विवेचन करता है और वह प्रेयमार्ग को त्याग कर श्रेय को ही स्वीकार करता है किन्तु मूर्ख विषय भोग को ही सुख समझता है इस लिये प्रेय मार्ग ही उसे प्यारा लगता है ।

स त्वं प्रियान्प्रियरूपा ँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षी ।
नैतां सृंकां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति वहवो मनुष्याः ॥३॥

आचार्य बोले—हे नचिकेतः ! तुझे धन्य है, क्योंकि तूने प्यारे पुत्र पौत्रादि और प्रिय रूप, अप्सरा आदि काम भोगों को पूरी तरह विचार कर त्याग दिया है—तू इस वित्तमयी साँकल में नहीं फंसा जिसमें कि संसार के बहुत से मनुष्य डूब जाते हैं ।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्तः॥ ४॥

विद्वानों ने विद्या और अविद्या दोनों को एक दूसरे से भिन्न मार्ग में ले जाने वाला जाना है । मैं तुझ को विद्या का अभिलाषी जानता हूं क्योंकि तुझे बहुत सी कामनाएं नहीं लुभा सकीं । विद्या नाम श्रेय मार्ग का और अविद्यानाम प्रेय मार्ग का है ।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥५॥

अविद्या में फंसे मनुष्य कैसे होते हैं सो कहते हैं— अविद्या में फंसे रहने वाले, अपने को धीर और पण्डित मानने वाले मूढ़ जन, इस प्रकार उलटे मार्ग में भटकते फिरते हैं जैसे अन्धे के पीछे अन्धे फिरा करते हैं ।

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

धनैश्वर्यादि के मोह से मूढ़ अतएव कल्याणाचरण में प्रमाद करने वाले बाल अर्थात् मूर्ख मनुष्य को परमार्थ का साधन तपश्चरण आदि अच्छा नहीं लगता । यही लोक है— परलोक कुछ नहीं है ऐसा मानने वाला बार २ मेरे अर्थात् मृत्यु के वश में पड़ता है ।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाताकुशलानुशिष्टः॥७॥

आत्मा अथवा परमात्मा के सुनने का भी बहुतों को अवसर नहीं मिलता। बहुत से लोग सुनते हुए भी जिसको नहीं जानते। ऐसे आत्मा और परमात्मा के वर्णन करने वाला कोई आश्चर्य रूप ही होता है। और कोई कुशल पुरुष ही इसे प्राप्त करता है। और कुशल गुरु द्वारा उपदेश दिया हुआ इसका ज्ञाता भी कोई आश्चर्य रूप ही होता है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥

बार २ चिन्तन किया हुआ भी संसारी मनुष्य के बताने पर यह आत्मा नहीं जाना जाता। परमार्थ ज्ञाननिष्ट आचार्य के उपदेश देने पर फिर जिज्ञासु में गति अर्थात चञ्चलता नहीं रहती बल्कि स्थिरता हो जाती है। क्योंकि यह आत्मा या ब्रह्म सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और तर्क करने के योग्य नहीं है।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृंनो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥

यह बुद्धि सूखे तर्कवाद से नष्ट नहीं करनी चाहिये। हे प्रियतम! तार्किकों से भिन्न वेदज्ञ पुरुष से उपदेश दी हुई ही यह बुद्धि श्रेष्ठ ज्ञान के लिये होती है जिस को तूने पा लिया है, तू निश्चय यही निश्चल धैर्यवान है, मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि हमें तेरे जैसा पूछने वाला, अन्य शिष्य मिले।

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् १०

यमाचार्य पुनः बोले ! कि धन ऐश्वर्य सब अनित्य हैं यह मैं जानता हूं । निश्चय ही अध्रुव नाशवान् धनादिक पदार्थों से वह ध्रुव अर्थात् अचल पद प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसी लिये मैंने नाचिकेत नामक यज्ञ का विधान तुझे किया, अनित्य शरीरादि पदार्थों से मैं नित्य परब्रह्म को प्राप्त कर चुका हूँ ।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोमंमहदुरुगायंप्रतिष्ठांदृष्ट्वाधृत्याधीरोनचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ११॥

वैवस्वत बोले—हे नचिकेतः ! तूने कामदेव सम्बन्धी सुख को, जगत् की स्थिति के कारण को, कर्म के अनन्त फल को, अभय के परले पार को, स्तुति करने योग्य महिमा को बड़ी प्रतिष्ठा को धैर्य पूर्वक ज्ञानरूपी नेत्रों से दुःख रूप देख कर त्याग दिया ।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥१२॥

ध्यानशील विद्वान् अध्यात्म योग की प्राप्ति से, उस कठिनता से दर्शनीय, अत्यन्त गुप्त, सर्वत्र व्याप्त, बुद्धि में स्थिर सब के साक्षिभूत, सनातन ज्ञान स्वरूप देव को जान कर हर्ष और शोक को छोड़ देता है ।

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये १३॥

मरण धर्मा मनुष्य आचार्य के उपदेश से आगे कहे हुए ब्रह्म के वर्णन को सुन कर और मन से भले प्रकार जानकर और इस सूक्ष्मतम धर्म भाव को सुने हुए के अनुसार अपनी आत्मा

में अनुभव करके निश्चय उस आनन्दमय परमात्मा को पाकर प्रसन्न हो जाता है, मैं नचिकेता के मानस धाम को खुला हुआ मानता हूँ।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्चयत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

आचार्य की अपने ऊपर कृपा देख कर नचिकेता बोले—हे गुरुदेव! धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक्, सूक्ष्म और स्थूल रूप प्रत्यक्ष संसार से पृथक् तथा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालों की गति से भी पृथक् आप जिस को जानते हैं उस को मुझे बताइये।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदंसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् १५॥

वैवस्वत बोले हे नचिकेतः! सारे वेद जिस पद की व्याख्या करते हैं और सारे तप जिस का वर्णन करते हैं और जिस की इच्छा करते हुए विद्वान् जिस ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं, उस पद का मैं संक्षेप से वर्णन करता हूँ—वह 'ओ३म्' है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

निश्चय यही ओ३म् ब्रह्म है, यही सब से उत्तम अक्षर है। इसी अविनाशी ब्रह्म को जान कर जो मनुष्य जो कुछ चाहता है उसको वह अवश्य प्राप्त होता है।

एतदालम्बन ँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

ब्रह्म ज्ञान के साधनों में इस ओ३म् का आलम्बन ही श्रेष्ठ है यही परम आलम्बन है, इस आलम्बन को जान कर ज्ञातव्य ब्रह्म के बीच महिमा को प्राप्त होता है ।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥१८॥

यह ज्ञान स्वरूप आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है, और न यह किसी से उत्पन्न हुआ और न इस से कुछ उत्पन्न होता है । अतः यह आत्मा जन्म रहित, नित्य, अविनाशी और अनादि है, इसका शरीर के नाश होने पर भी नाश नहीं होता ।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

यदि शरीर को मारने वाला मनुष्य यह समझता है कि मैं आत्मा को मारता हूँ और मरने वाला समझता है कि मैं मरता हूँ तो वे दोनों आत्मा को नहीं जानते । न तो यह आत्मा मारता है और न यह मरता है ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

अब आत्मा के साथ ही "यम" परमात्मा का वर्णन करते हैं :—

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से महान् वह परमात्मा इस मनुष्य के देह के भीतर हृदय में छिपा हुआ है । उस ईश्वर की महिमा को भगवान की कृपा से विषयों में न फँसने वाला, शोक रहित ही मनुष्य जान सकता है।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातु मर्हति ॥ २० ॥

जो परमात्मा व्यापक होने से अचल होने पर भी दूर से दूर देश में पहिले ही मौजूद है, और जो जीवात्मा तमोगुण से आच्छादित होने पर भी मन की प्रेरणा से सब जगह पहुँच जाता है उस आनन्द स्वरूप और लौकिक आनन्द से रहित परमात्मा तथा हर्ष और शोक से युक्त जीवात्मा को मेरे सिवाय और कौन जान सकता है। मेरे जैसे सन्त लोग ही परमात्मा और जीवात्मा को जान सकते हैं, अन्य साधारण मति के मनुष्य क्या जान सकते हैं।

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २१ ॥

वह ईश्वर शरीरों में बिना शरीर के मौजूद है, और चलायमान चीजों में स्थिर है ऐसे महान् व्यापक परमात्मा को जान कर धीर जन शोक रहित हो जाते हैं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥२२॥

वह परमात्मा पढ़ाने या उपदेश देने से नहीं मिल सकता, न वह बुद्धि से प्राप्त होता है और न उसे बहुत से शास्त्रों के पाठ से पा सकते हैं। हाँ, जिस को वह स्वीकार कर लेता है, उसी से वह प्राप्त होता है वह प्रभु उसी पर अपना स्वरूप प्रकाशित करता है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः ।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य दुराचार से नहीं हटा, अशान्त है और जिस की बुद्धि स्थिर नहीं है और जिसका मन चञ्चल है वह केवल तर्क से उस भगवान् को नहीं पा सकता।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २४ ॥

जिस परब्रह्म में ब्राह्मण और क्षत्रियादि सब प्रलय समय में लीन हो जाते हैं, जो मौत के भी मारने वाला है उस परमात्म देव के यथार्थ स्वरूप को कौन जान सकता है अर्थात् उसके स्वरूप को मुमुक्षु लोग ही जानते हैं साधारण लोग नहीं जानते ।

॥ दूसरी वल्ली समाप्त ॥

तृतीया वल्ली।

इससे आगे जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वर्णन करते हैं।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

अपने किए हुए कर्म के फल को भोगने वाले और अपनी शक्ति से जीवात्मा को फल भुगाने वाले, बुद्धि के गुप्त प्रदेश में रहने वाले, और मोक्ष धाम में सत्य स्वरूप वाले जीवात्मा और परमात्मा को ब्रह्म ज्ञानी लोग, गृहस्थी और वानप्रस्थ लोग छाया और प्रकाश के समान अलग २ कहते हैं। सीधा अर्थ यह है कि जीवात्मा कर्मों का फल भोगता है, परमात्मा भोगाता है, दोनों ही गुप्त रूप से शरीर में विद्यमान हैं और दोनों ही मोक्षावस्था में सत्य स्वरूप हैं यानी ईश्वर नित्य मुक्त है और जीव मोक्ष प्राप्त करता है इस लिये ब्रह्म ज्ञानी इन दोनों को भिन्न ही मानते हैं। यहां पर पञ्चाग्नि शब्द से वे गृहस्थ लिए गए हैं जो माता, पिता, अतिथि, गुरू और परमात्मा इन पाचों की परिचर्या करते हैं—"पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः। मातातिथिपिता चैव गुरुरात्मा च पञ्चमः॥ महाभारत उद्योग पर्व ॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेत ँ शकेमहि ॥ २ ॥

जो परमात्मा यजन याजन करने वाले मनुष्यों के लिये संसार को पार करने को पुलके समान है वह विनाश रहित परम ब्रह्म है जिसमें भय का लेश नहीं है, और संसार के

दुःखों से तरने की इच्छा करने वालों का जो पार है । उस ईश्वर को हम जान सकें ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

आचार्य यमने कहा हे नचिकेतः ! तुम जीवात्मा को रथका मालिक जानो, और शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम की रस्सी समझो ।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

इस शरीर के अन्दर जो इन्द्रियां हैं वे ही घोड़े हैं, और इन्द्रियों के जो विषय हैं वे ही उन घोड़ों के मार्ग हैं, मन और इन्द्रियों से युक्त आत्मा को ही विद्वान् लोग भोक्ता बताते हैं ।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

परन्तु जो मनुष्य अज्ञानी है जिसका मन स्थिर नहीं है उसकी इन्द्रियां उसके वश में नहीं होतीं जैसे दुष्ट घोड़े सारथी के वश में नहीं रहते ।

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

परन्तु जो मनुष्य बुद्धिमान और जिसका मन वश में है उसकी इन्द्रियां भी उसके वशमें रहती हैं जैसे उत्तम घोड़े सारथी के वश में रहते हैं ।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति स ँ सारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

जो मनुष्य बुद्धिमान नहीं होता, जिसका मन वशमें नहीं और छल कपट आदि दोषों से युक्त होने से अपवित्र रहता है, वह उस ब्रह्म के परम पद को नहीं पाता और सदा जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है।

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥

परन्तु जो मनुष्य ज्ञानी है शुद्ध मन वाला है, और सदा पवित्र रहता है वह ही उस प्रभु के परम पद को प्राप्त होता है। जिससे फिर दुःख को प्राप्त नहीं होता और न संसार में दुःख रूप जन्म मरण को प्राप्त होता है।

विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

जिस मनुष्य की बुद्धि उसकी सारथी है और मन लगाम है यानी वश में है वह अपने मार्ग का पार पा जाता है जो कि उस व्यापक ब्रह्म का सर्वोत्तम स्थान है।

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥

अब आचार्य यम, स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रिय आदि पदार्थों के क्रम का वर्णन करते हैं।

इन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रियों के रूप आदि विषय सूक्ष्म है और विषयों से मन सूक्ष्म है, मनसे बुद्धि अधिक सूक्ष्म है, और बुद्धि से महत्तत्व सूक्ष्मता है, महत् तत्व से अव्यक्त प्रकृति अति सूक्ष्म है और उससे पूर्ण परमात्मा सूक्ष्मतम है, परमात्मा से सूक्ष्म संसार में कुछ भी नहीं है वही सीमा है और वही परम गति है उससे आगे किसी की गति नहीं है।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्साकाष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

मन से परे सूक्ष्म सत, रज और तम गुण वाली प्रकृति से जीवात्मा और परमात्मा है परमात्मा से सूक्ष्म कुछ भी नहीं है वह अन्तिम मार्ग मनुष्य जीवन का उद्देश्य है वह सबसे सूक्ष्म है उसके पश्चात् न तो किसी का ज्ञान होता है और न उससे आगे कहीं जा सकते हैं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

यह सर्व नियन्ता परमात्मा जो कि सारे प्राणियों में छिपा हुआ है। मलिन बुद्धि वाले मनुष्यों से नहीं जाना जाता, किन्तु तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा सूक्ष्म दर्शी लोग उसे देखते हैं।

यच्छेद्वांमनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

सूक्ष्म बुद्धि से वह किस प्रकार जाना जाता है। वैवस्वत आगे इसका वर्णन करते हैं।

विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह अपने मन और वाणी को विषयों से रोके और फिर उनको अपनी बुद्धि में स्थिर करे उस बुद्धि को महान् आत्मा में स्थित करे और आत्मा को शान्त परमात्मा के साथ जोड़े।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४

यम ने कहा—हे मनुष्यो! उस परमात्मा के जानने के लिये अविद्या की नींद से उठ खड़े हो, जागो, और श्रेष्ठ आर्य जनों के सत् सङ्ग से ईश्वर को समझो, हे मनुष्यो! यह रास्ता सुगम नहीं है तत्व दर्शी लोग लांघने में कठिन उस्तरे की तेज धार के समान इस मार्ग को भी दुर्गम बताते हैं।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतःपरं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥१५॥

सारांश यह है कि वह ब्रह्म शब्द का विषय नहीं है, स्पर्श रहित है, रूप और विकार से भी रहित है, वह रस रहित है, नित्य है, गन्ध रहित है, अनादि अनन्त है, प्रकृति से भी सूक्ष्म है, निश्चल है, उस को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है, और मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳसनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

आचार्य यम द्वारा कहे हुई इस नचिकेता को समातंन

कथा को कह कर और सुन कर मेधावी मनुष्य ब्रह्म धाम में महिमा को प्राप्त होता है ।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि । प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

जो विद्वान् मनुष्य इस परम रहस्य भेद को ब्रह्म सभा में सुनावे अथवा पवित्र होकर अतिथियों के सत्कार के समय सुनावे तब इस कथा का फल अनन्त हो जाता है। इस कथा के सुनने से अनन्त पुरुषों को फल मिलता है।

प्रथमाध्याय तृतीय वल्ली समाप्त ।

दूसरा अध्यांय चौथी वल्ली ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

स्वयम्भू भगवान् ने इन्द्रियों को विषयों की तरफ़ जाने वाली बनाया है इसलिये मनुष्य बाहर के विषयों को तो देखता है किन्तु आत्मा को नहीं देखता, कोई ही विरला ध्यानी पुरुष मोक्ष की इच्छा से अन्तःकरण में रहने वाले परमात्मा को ध्यान द्वारा देखता है ।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥

जो मनुष्य मूढ़ हैं वे बाहर के विषय भोगों में ही लगे रहते हैं वे लोग मृत्यु के विशाल जाल में फँस जाते हैं, परन्तु विद्वान् लोग मोक्ष पद को निश्चल समझ कर अनित्य विषय सुख की याचना कभी नहीं करते, सदैव मोक्ष धाम की ही इच्छा करते हैं।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शां ९श्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत् ॥३॥

क्योंकि उस विज्ञान स्वरूप परमात्मा के रहने से ही मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धों को और मैथुन से होने वाले सुखों के अनुभवों को जानता है, इन सब के जान लेने से फिर बाक़ी क्या रहा, अर्थात् कुछ भी नहीं, इसलिये हे नचिकेतः! जिस के सम्बन्ध में तूने पूछा था यह वही ज्ञान स्वरूप परब्रह्म है।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौयेनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानम् मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

मनुष्य जिस की सत्ता से जागरित और स्वप्नावस्थाओं का अनुभव करता है, उस महान्, व्यापक ईश्वर को जान कर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करता।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत् ॥५॥

जो मनुष्य कर्मों के फल भोगने वाले प्राणों के धारण कर्त्ता आत्मा को जानता है और उसके अति निकट रहने वाले

भूत और भविष्यत् काल के स्वामी परमात्मा को भी जान लेता है वह ज्ञानी पुरुष निन्दा को कभी प्राप्त नहीं होता, हे नचिकेतः! जिस को तूने पूछा था यह वही परमात्मा है ।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत एतद्वै तत् ॥६॥

जो परमेश्वर तप अर्थात् सङ्कल्प से और प्राणों से भी पूर्व विद्यमान था, उस अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर रहने वाले पञ्च भूतों के साथ व्याप्त परमेश्वर को जो मनुष्य जान लेता है और सदा उसी के ध्यान में मग्न रहता है वही यह ब्रह्म है जिस को तूने पूछा था ।

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वै तत् ॥७॥

जो दिव्य ज्ञान प्रकाश स्वरूप वाली अखण्डनीया बुद्धि शक्ति है जिस से भगवान् के स्वरूप को जान सकते हैं वह प्राणायाम के अभ्यास से ही प्राप्त होती है, वह भौतिक शरीर के साथ ही उत्पन्न होती है, उस अन्तःकरण में रहने वाली शक्ति को जो मनुष्य जानता है वही उस ब्रह्म को जान सकता है ।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ॥८॥

वह परमेश्वर संसार में इस प्रकार से गुप्त रूप से व्याप्त है जैसे जैसे अरणियों में अग्नि छिपा रहता है वह तेजोमय ब्रह्म

अप्रमादी और ध्यानी मनुष्यों से सदा स्तुति करने योग्य है। निश्चय से यह वही परमात्मा है।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येतिकश्चन एतद्वै तत् ॥९॥

जिस परमेश्वर के प्रबल प्रताप से सूर्य उदय होता है, और प्रलय के समय जिस में अस्त हो जाता है, सारे दिव्य पदार्थ जिस के आधार से खड़े हैं और कोई भी पदार्थ जिस के नियम के विरुद्ध नहीं चल सकता, उसी को ब्रह्म जानना चाहिये जिसे तूने पूछा था।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

जो ईश्वर यहाँ है वही सूर्यादि लोक में भी है, जो सूर्यादि में है वही यहाँ है जो मनुष्य उस एक अखण्ड परमात्मा को नाना मानता है जो अनेक ईश्वर समझता है वह जन्म मरण के बन्धन में ही पड़ा रहता है।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

वह ब्रह्म मन अर्थात् सूक्ष्म बुद्धि से जाना जा सकता है। इस ब्रह्म में नानात्व है ही नहीं अर्थात् वह अखण्ड एक रस है जो अनेक परमात्मा जानता है वह सदा मृत्यु के मुख में पड़ा रहता है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत् ॥१२॥

वह सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा शरीर के हृदयस्थान में भी जहां अंगुष्ठमात्र स्थान में लिङ्ग शरीर सहित आत्मा रहता है विराज मान है। योगी जन उसकी प्राप्ति के लिये इसी स्थान पर ध्यान लगाते हैं वह ईश्वर भूत और भविष्यत सबका स्वामी है, जो मनुष्य उसको वहां जान लेता है वह फिर ग्लानि को प्राप्त नहीं होता, हे नचिकेतः! यह ब्रह्म है जिसके विषय में तूने प्रश्न किया था।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत् ॥१३॥

हृदय स्थान में विशेष रूपसे जानने के योग्य। वह व्यापक प्रभु धूम रहित प्रकाश के समान निर्मल है वही भूत भविष्यत् का स्वामीं है, वही आज मालिक है वही कल रहेगा, यही वह प्रभु है जिसकी जिज्ञासा तूने की थी ।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥१४॥

जैसे ऊंचे नीचे स्थानों में बरसा हुआ जल पर्वत के निम्न भाग में ही पहुँच जाता है इसी तरह गुणी से गुणों को भिन्न देखने वाला मनुष्य उन गुणों के पीछे ही चल पड़ता है ।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

हे गौतम वंशी नचिकेता ! जैसे शुद्ध जल शुद्ध जल में डाला हुआ शुद्ध ही हो जाता है, ऐसे ही ज्ञानी मनुष्य का आत्मा पवित्र परमात्मा से मिल कर पवित्र और निर्मल हो जाता है।

॥ चौथी वल्ली समाप्त ॥

पञ्चम वल्ली ।

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यत एतद्वै तत् ॥१॥

शुद्ध अन्तःकरण वाले अजन्मा आत्मा का यह शरीर ११ द्वार वाला है* उस शरीर से यथा योग्य काम लेने वाला आत्मा शोक नहीं करता और उसी शरीर से विमुक्त होने से मनुष्य मोक्ष लाभ करता है—यह वही आत्मा है।

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥२॥

वह आत्मा १ शरीर से दूसरे शरीर में जाता है इस लिये हंस है, हृदय में रहता है, मनुष्यादि योनियों में जाता है अतः वसु है, अन्तरिक्ष चारी होता है, शरीर धारी होने से पृथ्वी पर भी रहता है, उसके जन्म और मृत्यु की तिथि का पता नहीं चलता अतः वह अतिथि है, वह घरों में रहने से दुरोणसत है,

---

*११ द्वार ये हैं—सिर में ७, अधो द्वार २, १ नाभिं, १ मूर्द्धा जो के शरीर में १३ द्वार होते हैं २ उपस्थ में २ स्तनों में।

वह मनुष्य शरीर धारी, श्रेष्ठ ऋषियों के शरीर का धारक, सत्य में रहने वाला, सूक्ष्म शरीर से आकाश में रहने वाला, जल जन्तुओं, और पृथ्वी में उत्पन्न होने वाला, ऋत अर्थात् ईश्वर की कृपा से शरीर धारी पर्वतों में उत्पन्न होने वाला, सत्य स्वरूप और गम्भीर विचार वाला है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥३॥

जब वही जीवात्मा योगाभ्यास में रत होता है तब प्राण वायु को वह ऊपर ब्रह्माण्ड में ठहराता है और अधोद्वार में चलने वाली अपान वायुको पेट में फेंकता है। उस समय नित्य प्रशस्त जीवात्मा की सारी इन्द्रियां सेवन करती हैं, अर्थात् योगाभ्यास समय में (जैसे भृत्य लोग राजा के पास हाजिर रहते हैं) ऐसे ही सारी इन्द्रियां आत्मा के पास ही उपस्थित रहती हैं।

अस्य विस्र ँ समानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत् ॥४॥

शरीर के स्वामी शरीर में रहने वाले इस आत्मा के शरीर से निकल जाने पर और शरीर को छोड़ देने पर शरीर में पीछे क्या बच जाता है, कुछ भी नहीं, बस जिसके निकल जाने पर कुछ नहीं रहता, हे नचिकेता वही आत्मा है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

कोई भी मनुष्य न तो प्राण से जीता है और न अपान से बल्कि मनुष्य उससे जीता है जिसके आश्रय से ये दोनों शरीर में रहते हैं और वह आत्मा है।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥

हे गौतम नचिकेता! अब मैं तुझे खास तौर से एक तो ब्रह्म का रहस्य बताऊंगा। और एक यह बताऊँगा कि आत्मा का मरने के बाद क्या होता है सो तू उसे ध्यान पूर्वक सुन।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥

वैवस्वत बोले हे नचिकेता! बहुत से मनुष्य तो अपने २ कर्म और अपने २ ज्ञान के अनुसार मनुष्यादि की योनियों में जाते हैं और जो लोग अति निकृष्ट पाप करने वाले हैं वे वृक्षादि स्थावर योनियों को प्राप्त होते हैं।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥८॥

परन्तु यह जो अन्तर्यामी, प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिये सब पदार्थों का निर्माण कर्ता, और प्रमाद आलस्य रूपी निद्रा में सोते हुए जीवों में जागता रहता है, वही अमृत रूप शुद्ध ब्रह्म है उसी के आश्रित सारे लोक ठहरे हुए हैं, उसके

नियमों का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, यह वही परमात्मा है जिसके सम्बन्ध में तूने प्रश्न किया था।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥

जैसे अग्नि विद्युत् रूप से संसार के सब पदार्थों में प्रविष्ट होकर उस २ पदार्थ के रूप से ही दीखता है, ऐसे ही वह एक, सबका अन्तरात्मा ईश्वर सब पदार्थों के अन्दर और बाहर विद्यमान है, विद्युत् सब पदार्थों में रम रहा है और सबसे पृथक् भी है, ऐसे ही ईश्वर सब पदार्थों में विद्यमान होते हुए भी सबसे पृथक् है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

जैसे वायु संसार के सब पदार्थों में प्रविष्ट हुआ उन २ पदार्थों के तुल्य रूप वाला हो रहा है, ऐसे ही सबका साक्षी एक ईश्वर प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है और फिर भी उससे पृथक है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ११

जैसे सारे संसार को दिखाने वाला भी सूर्य, आँखों के दोषों से लिप्त नहीं होता, इसी तरह सबका साक्षी एक ईश्वर बाहर के लोक दुःख से लिप्त नहीं होता—सूर्य यद्यपि लोक लोकान्तरों को प्रकाशित करता है परन्तु लोक के दोष उसमें नहीं आते

ऐसे ही ईश्वर भी सब जगत् में व्यापक है परन्तु उसमें जगत् के दोष नहीं आते।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषाꣳ सुखꣳ शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

जो परमेश्वर एक सबका नियन्ता, और सारे चराचर जगत् का साक्षी है वही एक प्रकृति को बहुत प्रकार से रचता है, अर्थात् उसी की स्वाभाविक इच्छा से प्रकृति में अनेक परिणाम होते हैं जो बुद्धिमान् भक्त लोग उस जगदीश्वर को अपनी आत्मा में व्याप्त देखते हैं उन्हीं को अविनाशी सुख मिलता है दूसरों को नहीं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

जो प्रभु अनित्य पदार्थों में नित्य अविनाशी है, और जो ज्ञानियों के भी ज्ञान का दाता है, जो चराचर वस्तुओं के बीच में एक अखण्ड है और अनन्त जीवों के कर्म फलों का देने वाला है उस परमेश्वर को जो धीर जन अपनी आत्मा में देखते हैं उन्हीं को सदा रहने वाली शान्ति मिलती है दूसरों को नहीं।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानियां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

इतना सुनकर नचिकेता बोले, हे आचार्य ! ब्रह्म वेत्ता लोग जिसे प्रत्यक्ष से उंगली द्वारा नहीं दिखा सकते कि वह ब्रह्म ऐसा है और फिर भी उसे अनिर्वचनीय परम सुख मानते हैं तो मैं ऐसे ब्रह्म को कैसे जानूं क्या वह प्रकाश का कारण है अथवा प्रदीप के तुल्य स्वयं प्रकाशक है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

आचार्य ने उत्तर दिया हे नचिकेता ! उस परमेश्वर को सूर्य, चन्द्रमा, तारे और बिजलियाँ प्रकाशित नहीं कर सकते, भला विचारा यह अग्नि तो उसे क्या प्रकाशित करेगा, वास्तव में उसी के चमकने पर सारा विश्व चमकता है, उसी की ज्योति से यह सारा जगत् दीप्त हो रहा है, वह तो प्रकाश स्वरूप है सब का प्रकाश वही है ।

॥ पांचवीं वल्ली समाप्त ॥

षष्ठी वल्ली ।

ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृत मुच्यते ॥ तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥ १ ॥

जिस की जड़ ऊपर को और जिस की शाखाएं नीचे को हैं यह मनुष्य का शरीर पीपल के वृक्ष के समान स्वरूप से

अनित्य किन्तु प्रवाह से अनादि चला आरहा है, जो इसके मूल का अथवा प्रकृति का भी कारण है वही शुद्ध ब्रह्म है, वही अमृत आनन्दमय कहा जाता है उसी में सब पृथिव्यादि लोक थमे हुए हैं, उसको कोई नहीं लांघ सकता, यही भगवान् जानने के योग्य हैं ।

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

प्रलयान्तर में यह सारा जगत् परमेश्वर से ही उत्पन्न होता है और सब के प्राण स्वरूप ब्रह्म के आश्रय से ही इस में क्रिया हो रही है । वह ब्रह्म महाभय है, उस का अटल नियम उस का उठा हुआ वज्र है, जो जन उस ब्रह्म को सब का नियामक, न्याय कर्त्ता और जीवनाधार जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं ।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

उसी परमेश्वर के भय से अग्नि जलती है, उसी के कठोर नियम के अनुकूल सूर्य तपता है, उसी के नियम में जकड़े हुए मेघ वायु और पांचवाँ मृत्यु दौड़ दौड़ कर काम करते हैं ।

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

यदि मनुष्य इस शरीर को छोड़ने से पूर्व ही उस परम पिता परमात्मा को जान सका तो ठीक है, यदि न जान सका तो कल्प कल्पान्तरों पर्यन्त शरीर धारण करता है ।

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

जैसे स्वच्छ दर्पण में मुँह दीखता है वैसे ही शुद्ध आत्मा में परमात्मा दीखता है, जैसे स्वप्न में अनेक पदार्थ अपने ही आप सन्मुख आजाते हैं वैसे ही पुण्यमय जन्म में प्रभु के दर्शन होते हैं जैसे जल के अन्दर सब साफ़ साफ़ दीखता है, वैसे ही गान के साथ ध्यान धरने से भगवान् दीखने लगता है, जैसे छाया और धूप का भेद स्पष्ट मालूम होता है वैसे ही मूर्द्धा के अन्दर निर्बीज समाधि से पुरुष और प्रकृति का भेद साफ़ साफ़ दीखने लगता है । इस जगह पितृ लोक का अर्थ पुण्यमय जन्म गन्धर्व लोक का अर्थ जहाँ गाने से आनन्द मनाया जाय और ब्रह्म लोक का अर्थ ब्रह्माण्ड अर्थात् मूर्द्धा है ।

इन्द्रियाणां पृथग्भावःमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

इन्द्रियाँ आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, और मरना ये भी शरीर के धर्म हैं आत्मा से इनका कुछ सम्बन्ध नहीं ऐसा जान कर धीर पुरुष कभी शोक युक्त नहीं होता ।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियों से मन सूक्ष्म हैं, मन से सत्वगुण युक्त बुद्धि उत्तम है बुद्धि से यह महत्तत्व उत्तम है, महत्तत्व से अव्यक्त नामक प्रकृति सूक्ष्म है ।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

अव्यक्त से परम पुरुष परमात्मा सूक्ष्म है जो व्यापक है और शरीर रहित है, इसी परमात्मदेव को जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है और आनन्द को प्राप्त होता है ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

उस अचिन्त्य अव्यक्त स्वरूप परमेश्वर का रूप इन इन्द्रियों के सामने नहीं आता, इस को कोई आँख से नहीं देख सकता वह परमेश्वर हृदय से बुद्धि से और मन से ही विचारा जाता है जो इस प्रकार उसे जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं ।

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

भगवान् का ज्ञान समाधि में होता है समाधि का स्वरूप यह है जब पांचों ज्ञानेन्द्रिय मन के साथ निश्चल होजावें और बुद्धि भी चेष्टा न करे उसी को समाधि अथवा जीवन्मुक्त दशा कहते हैं ।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

उसी इन्द्रियों की स्थिर धारणा को मुनिजन योग मानते हैं तब योगी प्रमाद रहित और इन्द्रियों की वासना से भी रहित

हो जाता है, योग में ज्ञान की उत्पत्ति और कर्म का नाश हो जाता है ।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुप लभ्यते ॥१२॥

जो परमात्मा वाणी मन, और आँख से नहीं जाना जा सकता वह "आत्मा" है ऐसा कहने वाले मनुष्यों से कैसे प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् नास्तिक मनुष्य भला उस को कैसे प्राप्त कर सकता है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३॥

ईश्वर के होने और न होने में तर्क से जो मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व को जान लेता है, यदि ईश्वर न होता तो इस सृष्टि की उत्पत्ति कैसे होती इत्यादि तर्क से जो मनुष्य ईश्वर की सत्ता का अनुभव कर लेता है उस का तत्व ज्ञान प्रदीप्त हो जाता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

जब मनुष्य के हृदय की सारी कामनाएं नष्ट हो जाती हैं तब यह मरणधर्मा मनुष्य मुक्त हो जाता है और मुक्ति दशा में ब्रह्म को प्राप्त करता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥१५॥

जब इस मनुष्य की काम, क्रोध, द्वेष, अविद्या आदि की सारी हृदय की गांठें खुल कर टूट जाती हैं तब मनुष्य अमृत पद को प्राप्त होता है, निश्चय इतना ही सार युक्त उपदेश है। यही मर्म है।

मरण समय में योगी क्या करे सो कहते हैं—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वन्न्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

इस शरीर में हृदय के अन्दर एक सौ एक नाड़ियां हैं, उनमें से एक सुषुम्णा नाड़ी हृदय से चलकर मस्तक में जा निकली है उस नाड़ी के साथ ब्रह्माण्ड द्वारा जब जीवात्मा शरीर से निकलता है तब वह मुक्ति को प्राप्त होता है, उस नाड़ी के सिवाय अन्य नाड़ियों से जाने वाला जीवात्मा जन्म मरण के प्रवाह को प्राप्त होता है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

उक्त प्रकार से हृदय के अंगुष्ठ मात्र स्थान में रहने वाला जीवात्मा है योगी को चाहिये कि प्रयाण काल में धैर्य के साथ उसे अपने शरीर से ऐसे निकाले जैसे मूंज के पूले में से सींक खींची जाती है, उस आत्मा को शुद्ध पवित्र और अमृत जाने।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं

च कृत्स्नम् । ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योप्येवं यो विद्ध्यात्समेव ॥१८॥

मृत्यु द्वारा कही हुई इस सम्पूर्ण आत्म विद्या और योग की विधि को नचिकेता प्राप्त करके ब्रह्मधाम को पा गयो, पाप रहित हो गया और अमर बन गया, और जो भी इस प्रकार जानेगा वह भी अमर हो जायगा।

ॐ सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

भगवान् हम दोनों गुरु शिष्यों का इकट्ठा पालन करे, हम दोनों को कर्म के फल इकट्ठे भुगावे, हम दोनों मिलकर अपना बल बढ़ावें, हम दोनों का ज्ञान तेज वाला हो, हम दोनों कभी द्वेष न करें।

॥ छठी वल्ली समाप्त ॥

* यजुर्वेदीया कठोपनिषद् समाप्त *

प्रश्नोपनिषद् ।

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः॥१॥

एक समय भरद्वाज गोत्री सुकेशा, शिवि का पुत्र सत्यकाम, सौर्य का पुत्र गर्ग गोत्री गार्ग्य, अश्वल का पुत्र कौशल्य, भृगु-गोत्री विदर्भी का पुत्र वैदर्भि, कत्य का पुत्र कबन्धी, ये सब ईश्वर परायण ब्रह्म विश्वासी भक्त जन परब्रह्म को खोजते हुए, हाथों में समिधाएं लिए भगवान् पिप्पलाद महर्षि के पास गए, और सोचा कि निश्चय है कि जो कुछ हम पूछना चाहते हैं उसे महर्षि अवश्य बता देंगे।

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे कहा "आप तप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के साथ एक वर्ष अभी और यहां रहिये, तब अपनी इच्छा-नुसार प्रश्न पूछना, यदि हम जानते होंगे तो तुम्हें सब कुछ बतावेंगे।

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

एक वर्ष बीतने पर कवन्धी कात्यायन ने ऋषि के समीप आकर पूछा—भगवन् ! ये प्रजायें किससे उत्पन्न होती हैं, अर्थात इस नाना विध जगत् का उत्पन्न करने वाला कौन है ?

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्य इति ॥ ४ ॥

महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर दियो कि जव चराचर जगत् का स्वामी प्रजापति मैं प्रजा को रचूं ऐसी स्वाभाविक इच्छा से युक्त हुआ तब उसने तप तथा—सृष्टि रचने का संकल्प किया। तब वह प्रजा पति ध्यान करके दो सहयोगी जोड़ों को उत्पन्न करता है उसमें एक तो है रयि जिसे भोग्य कहते हैं। और दूसरा है प्राण जिसे भोक्ता कहते हैं, इन दोनों को यह विचार कर बनाया कि ये दोनों ही मेरे लिये नाना प्रकार की सृष्टि बना देंगे।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि निश्चय पूर्वक सूर्य ही प्राण है क्योंकि यह प्राणियों के जीवन का मुख्य साधन है और चन्द्रमा रयि है, क्योंकि धनादि ऐश्वर्य के देने वाला है। अथवा यह सारा संसार जो मूर्त्त, स्थूल और अमूर्त्त सूक्ष्म रूपसे विद्यमान है। रयि है, इस लिये सारे स्थूल पदार्थ रयि संयक हैं ।

यहां सूर्य को प्राण इस लिये बताया है क्योंकि बिना सूर्य के वर्षा नहीं हो सकती और बिना वर्षा के प्रजा की उत्पत्ति

असम्भव है। इस लिये प्रजा की स्थिति में सूर्य ही सबसे बड़ा साधन होने से वह सृष्टि में प्राण स्वरूप है, और सूर्य ही भोक्ता जीवात्मा की चेष्टा का प्रवर्त्तक है। बिना सूर्य के जीवात्मा कोई कार्य यथा विधि नहीं कर सकता इस लिये सूर्य ही भोक्ता है। चन्द्रमा भोग्य है अतएव उसे रयि कहते हैं, भोग्य इस लिये है। क्योंकि भोग्य अन्नादि में रस चन्द्रमा से ही उत्पन्न होता है औपधियां उसी से वृद्धि पाती हैं अतएव वह भोग्य है।

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान्रश्मिषु संनिधत्ते॥ यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

भोक्तृ शक्ति की विशेष व्याख्या करते हुए पिप्पलादने कहा कि—उदय होता हुआ सूर्य जब पूर्व दिशा में प्रवेश करता है तव पूर्व दिशा की भोक्तृ शक्तियों को अपनी किरणों से संयुक्त करता है, इसी तरह दक्षिण, पश्चिम उत्तर नीचे ऊपर और बीच की कोने की दिशाओं में जब वह प्रवेश करता है और इनको प्रकाशित करता है तव सारी भोक्तृ शक्तियों को अपनी किरणों से मिलाता है अर्थात जहां २ सूर्य की किरणें जाती हैं वहीं २ जीवन आता जाता है।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते॥ तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

सो वह प्राण रूप सूर्य जो कि अपने तेज से सारे संसार का प्रकाशक है जीवन और अग्नि रूप होकर उदय होता है जैसा कि नीचे की ऋचा में वर्णन भी किया है ।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येषसूर्यः ॥८॥

संसार का प्रकाशक किरणों वाला, तेज स्वरूप, उत्तम आश्रयदाह गुण युक्त सूर्य एक है.वह सहस्रों किरणों के साथ और असंख्य प्रकार से परिवर्त्तन करता हुआ सारी प्रजा का प्राण होकर उदय होता है ।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते ॥ त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर्यःपितृयाणः ॥ ६ ॥

काल भी प्रजा पति है, उसके दक्षिण और उत्तर २ मार्ग हैं जिनको दक्षिणायन और उत्तरायण कहते हैं सो जो धर्मात्मा-जन यज्ञादि वैदिक कर्म तथा कुए, प्याऊ आदि कर्म उत्तम फल की इच्छा से करते हैं वे उत्तम भोगों से युक्त लोकों को प्राप्त होते हैं इन लोकों को ही चन्द्रमस लोक कहते हैं, वे ही वार २ जन्म

नोट—यहां उत्तर शब्द उत्तम का वाची और दक्षिण निकृष्ट वाची है वर्ष के २ भेद हैं, सूर्य ६ मास उत्तरायण और ६ मास दक्षिणायन रहता है, भोग्य पदार्थों की जिस काल में अधिकता होती है वह दक्षिणायन,

मरण को प्राप्त होते हैं इसलिये श्रौतस्मार्त कर्म करने वाले और पुत्रादि की इच्छा वाले ऋषि लोग मुक्ति की अपेक्षा निकृष्ट दक्षिण मार्ग को प्राप्त होते हैं, सो संसार चक्र में घूमना पिता आदि का जो मार्ग है यही रयि कहलाता है और यही भोग्य शक्ति प्रधान है।

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः॥१०॥

और जो तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, और विद्या से परमात्मा को जान कर प्रकाश मय अपनी आत्मा को वश में करते हैं वे ही उत्तरायण मार्ग के अधिकारी होते हैं यही आत्मा प्राणों का आश्रय है यह अविनश्वर है यह अभय है यही ज्ञान की अवधि है इसी आत्म ज्ञान से ज्ञानी पुरुष संसारी जीवों के समान बार २ जन्म मरण के बंधन में नहीं आते, यही जन्म मरण की रोक है, इसी के लिये निम्न लिखित श्लोक भी हैं।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति॥११॥

और जिसमें भोक्तृ शक्ति का प्राधान्य रहता है वह निवृत्ति मार्ग प्रधान उत्तरायण है, जो लोग इष्टा पूर्त कर्मों को करते हैं वे चन्द्रमस् लोक को प्राप्त होते हैं, जिस स्थान में उत्तम भोगों की प्राप्ति होती है उसी का नाम चन्द्रमस लोक है।

इसमें सूर्य का वर्णन है—पाञ्च ऋतुएं ही जिसके पैर के समान हैं, यहां हेमन्त का शिशिर ऋतु में अन्तर्भाव कर दिया है। और १२ महीने जिसके अङ्ग के समान हैं पुरीष अर्थात् जिसमें जल सर्वथा सम्बद्ध है, क्योंकि आदित्य से ही वृष्टि होती है अन्तरिक्ष लोक से ऊपर द्युलोक के जो परार्द्ध भाग में अवस्थित है विद्वान लोग उसे पिता के समान पालक कहते हैं। दूसरे विद्वज्जन उसे ६ ऋतु रूप जिसमें अरे लगे हैं और ७ भूः भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य ये व्याहृति नामक लोक ही जिस में पहिये के समान हैं उस विचक्षण सूर्य को रथ की नाभि में आराओं के तुल्य लगा हुआ कहते हैं।

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥१२॥

मास भी प्रजापति है, उसका कृष्णपक्ष ही रयि है, भोग्य शक्ति प्रधान निर्बल है, और शुक्लपक्ष सबल भोक्त शक्ति प्रधान प्रकाशमय जीवन का हेतु है इसी लिये वेदज्ञ ऋषिजन शुक्लपक्ष में ही यागादि करते हैं और साधारण जन कृष्ण पक्ष में यागादि करते हैं।

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति। ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

दिन रात भी प्रजापति हैं, उसमें दिन ही प्राण के समान जीवन का हेतु है और रात्रि भोग्य शक्ति प्रधान रयि है इसलिये

वे लोग जो कामातुर होकर दिन में सम्भोग करते हैं वे अपने प्राणों को नष्ट करते हैं और जो रात्रि में स्त्री से संयोग करते हैं वे ब्रह्मचारी ही बने रहते हैं, अतः दिवा मैथुन निषिद्ध है।

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

अन्न भी प्रजापति है, उसी से वीर्य बनता है, और फिर उसी से ये प्रजाएं उत्पन्न होती हैं।

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ये मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यंप्रतिष्ठितम् ॥१४॥

सो जो लोग अपनी ही स्त्री से नियम रखने वाले जितेन्द्रिय हैं वे ही कन्या और पुत्र दोनों प्रकार के सन्तानों को प्राप्त करते हैं और जो ब्रह्मचर्य धारण पूर्वक तप करते हैं जो सत्य से विचलित नहीं होते उन ही को इस शरीर में ही ब्रह्म लोक अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

जिनमें कुटिलता, झूंठ, और माया छलादि नहीं हैं उन ही को शरीर छूटने के पश्चात् शुद्ध ब्रह्म का दर्शन होता है जिससे वे मुक्त कहाते हैं।

॥ इति प्रथम प्रश्न समाप्तः ॥

अथ द्वितीय प्रश्नः ।

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥

कात्यायन के प्रश्न का उत्तर सुनने के पश्चात् भृगु गोत्री वैदर्भि ने पूछा कि हे भगवन् ! कितने देवता (दिव्य शक्तियें) प्रजा को थामें रहते हैं, कितने इसको प्रकाशित करते रहते हैं, और फिर इनमें श्रेष्ठ कौन हैं ?

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वांमनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाण मवष्टभ्य विधांरयामः ॥ २ ॥

महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर दिया कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाणी, मन, नेत्र तथा कान ये ही देव हैं, ये इन्द्रियादि देव देहको धारण करते हुए आपस में ही झगड़ने लगे, और कहने लगे कि हम ही इस शरीर को थाम रहे हैं ।

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ ३ ॥

तव प्राण ने जो वस्तुतः सब में श्रेष्ठ है इन्द्रियों से कहा कि, तुम धोखे में न पड़ो, मैं ही वह शक्ति हूँ, जो अपने आप को ५ प्रकार से बाँट कर इस शरीर को थामें हुए हूँ, परन्तु प्राण की इस बात पर किसी को विश्वास न आया ।

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते एवमस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वांमनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

इन्द्रियों को अविश्वासी समझ कर वह प्राण अभिमान से ज़रा बाहर को निकला, उसके बाहर आते ही बाकी सारे ही देव बाहर निकल आए और जब वह प्राण फिर ठहर गया तो वे सारे भी ठहर गए। जैसे शहद की मक्खियां अपने राजा के उड़ जाने पर सारी उड़ जाती हैं और उसके बैठ जाने पर सारी बैठ जाती हैं ऐसे ही वाणी, मन, नेत्र, और कान आदि इन्द्रियें भी देव प्राण के साथ निकले और फिर उसके बैठने पर बैठ गए वे देव प्रसन्न होकर प्राण की इस प्रकार स्तुति करने लगे जिसका आगे वर्णन किया जाता है।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥

यह प्राण ही अग्नि बन कर तप रहा है, यही सूर्य है, यह मेह है यही वायु है, पृथ्वी है यही सबका पोषक दिव्य स्वरूप है यही स्थूल सूक्ष्म और अमृत है।

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

जिस तरह पहिये की पुट्ठी में चारों तरफ अरा लगे होते हैं वैसे ही सारा संसार प्राण में स्थित है। ऋचाएं, यजु, साम, यज्ञ क्षत्रिय, ब्राह्मण, और वैश्यादि सब प्राण में ही स्थित हैं।

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रति जायसे ।
तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥

तू ही सारी प्रजा का पालक बन कर गर्भ में विचरता है, तू ही जन्म लेता है, यदि प्राण न हो तो बालक उत्पन्न नहीं हो सकता, ये प्राणी तेरी ही रक्षा के लिये अन्न खाते हैं, तू प्राण अपान आदि भेदों से इस शरीर में जीवन धारण करता हुआ प्रतिष्ठित रहता है।

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वांगिरसामसि ॥ ८ ॥

हे प्राण ! तू वसु रुद्रादित्य आदि देवताओं के कार्य का चलाने वाला है, तू ही पिताओं को सन्तान की उत्पत्ति के समय आनन्द का कारण होता है, अर्थात् जब सन्तान प्राण सहित उत्पन्न होती है तभी पिता आदि प्रसन्न होते हैं।

अथर्वाङ्गिरस ऋषियों का सत्याचरण भी तू ही है। अर्थात् तपस्वी ऋषिजन प्राणायामादिसे ही सत्य को प्राप्त होतेहैं।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

हे प्राण ! तू वायु रूप से वर्षा के द्वारा अन्न का दाता तू अपने तेज से रुद्र, दूसरों को मृत्यु समय में रुलाने वाला,

तू ही स्थित के समय रक्षक, तू अन्तरिक्ष अर्थात् हृदयाकाश में हर समय रहने वाला, और तूही सब नक्षत्रों का अपने प्रकाश देने के कारण सूर्य रूप है।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥

हे प्राण! जब तू वायु रूप से मेह के साथ मिल कर बरसता है तब ये मनुष्य आदि सारे प्राणी अत्यन्त आनन्दित होते हैं और विचारते हैं कि अब मन चाहा अन्न उत्पन्न होगा।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥ ११ ॥

हे प्राण! तू नित्य शुद्ध, तू प्राणियों में एक रूप से चलने वाला अन्नादि का भोक्ता संसार का सर्वोत्तम रक्षा करने वाला है, हम तेरे लिये खाने योग्य अन्न आदि के देने वाले हैं, तू ही वायु का पिता है।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥

हे प्राण! तू ही वाणी, कान, आँख आदि में प्राण अपान व्यान आदि भेदों से प्रतिष्ठित है, मनोवृत्तियों में भी तू ही वर्त्तमान है तू अपने स्वरूप को कल्याण कारक कर, तन से बाहर न निकले इन्द्रियों ने कहा कि हे प्राण तू ही हम सब में श्रेष्ठ है।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि इति ॥ १३ ॥

उपसंहार करते हुए इन्द्रियों ने प्राण की स्तुति करते हुए कहा—कि तीनों लोकों में जो चराचर जगत् प्रतिष्ठित है वह सब प्राण अर्थात् वायु के वश में ही है इसलिये हे प्राण ! पुत्रों को माता के समान तू हमारी रक्षा कर—हमारे लिये तू शोभा और बुद्धि प्रदान कर ।

इति द्वितीय प्रश्न समाप्त:

तृतीय प्रश्नः

अथ हैनं कौशल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिंछरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं वाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्म-मिति ॥ १ ॥

वेदर्भि के प्रश्न का उत्तर सुनने का पश्चात् अश्वल ऋषि के पुत्र कौसल्य ने ऋषि पिप्पलाद से पूछा हे भगवन् ! यह प्राण किससे उत्पन्न होता है ? इस शरीर में कैसे आता है ? अपने को बांट कर शरीर में कैसे रहता है ? किस रास्ते से बाहर को निकल जाता है ? बाहर के ज्ञान को कैसे धारण करता है ? और मानस सुख दुःखों को कैसे धारण करता है ?

तस्मै स होवाचाति प्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मा-त्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

महर्षि पिप्पलाद बोले—हे कौशल्य ! तू अति सूक्ष्म प्रश्न पूछता है जो साधारण मनुष्य नहीं पूछ सकता, इससे मैं समझता हूँ कि ब्रह्म ज्ञानी है अतएव मैं तुझे तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ ।

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मि-न्नेतदाततं मनोधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ॥३॥

यह प्राण परमात्मा से उत्पन्न होता है, इसलिये कहा है (एतस्माज्जायतेप्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणिच)

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुंक्ते । एतान्ग्रामानेतान्ग्रा-मानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राणः ॥ इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥४॥

जिस तरह कोई महाराजा अपने अधिकारियों को काम में लगाता है और उनसे कहता है कि इन ग्रामों के ऊपर तुम शासन करो और इन पर तुम करो ऐसे ही यह प्राण दूसरे प्राणों को अलग २ अपने स्थान और काम पर लगा देता है ।

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः । एष ह्येतद्धुतमन्नं समुन्नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥५॥

गुदा और मूत्र त्यागने वाली इन्द्रियों में अपान रहता है, आँख, कान, मुंह और नाक में प्राण स्वयं रहता है, शरीर के बीच अर्थात् कण्ठ से नाभि तक समान वायु रहता है, यही खाए हुए अन्न को पचाता है, जिससे कि सातों इन्द्रियों के द्वार (आंखें, कान दो नाक, २ और मुख) अपने २ कार्य करने में समर्थ होते हैं।

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६॥

इस आत्मा के रहने का स्थान हृदय है, और हृदय के अन्दर १०१ नाड़ियाँ हैं, और १०१ नाड़ियों की सौ २ शाखा नाड़ियां हैं, उन शाखा नाड़ियों में प्रत्येक की ७२ हज़ार २ प्रति शाखा नाड़ियां होती हैं, इन नाड़ियों में ही व्यान नामक प्राण घूमता है ।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

कठ वल्ली में यह बात कही गई है कि हृदय में १०१ नाड़ियां हैं उनमें १ नाड़ी सीधी मस्तक को चली गई है जिसे सुपुम्णा नाड़ी कहते हैं, उसी में उदान वायु रहता है, यह नाड़ी मस्तक से लेकर सीधी पैर तक चली गई है, इसीके १ स्थान में जीवात्मा रहता है। इसी नाड़ी के साथ उदान नामक प्राण ऊपर को उठता हुआ पुण्य कर्म से जीवात्मा को सुख से युक्त स्थानों को जिनको हम पुण्यलोक कहते हैं ले जाता है, और पाप कर्म से पाप मय योनियों को ले जाता है और जब पाप और पुण्य बराबर होते हैं तब मनुष्य योनि को प्राप्त कराता है ।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥८॥

निश्चय ही सूर्य शरीर से बाहर प्राण का भी प्राण है, यह सूर्य आंख में रहने वाले प्राण की सहायता करता हुआ उदय होता है, बिना सूर्य की सहायता के आंख नहीं देख सकती, सूर्य तो द्युस्थान का देवता है, और पृथ्वी में जो अग्नि रूप दिव्य शक्ति है । वह

मनुष्य के अपान नामक प्राण को सहायता देती है जो सूर्य और पृथ्वी के बीच में आकाश है वह समान वायु का स्थान है और जो वायु है वह व्यान है।

तेजो ह वाव उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥९॥

निश्चय पूर्वक तेज ही उदान है, यही उदान जीवात्मा को शरीर से निकालता है, अतएव जिस का तेज शान्त हो जाता है वह पुरुष मर जाता है, और मानस शक्तियों में मिले हुए आँख आदि इन्द्रियों के साथ वह मनुष्य पुनर्जन्म को प्राप्त होता है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः । सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥

मरने समय चिरकाल की वासनाओं से घिरा हुआ, जैसा चित्त होता है, वह मनुष्य उसी चित्त के साथ प्राण का आश्रय लेता है और प्राण उदान के साथ जीवात्मा के सहित लिङ्ग शरीर को शुभाशुभ कर्म के अनुकूल उसी २ योनि में पहुँचा देता है। मरते समय के भावों से यह पता चल जाता है कि यह मनुष्य उत्तम योनि में जायगा या नीच योनि में।

य एवं विद्वान्प्राणं वेद । न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥११॥

जो विद्वान् इस प्रकार से प्राण को जानता है उसके यहाँ से सन्तान का नाश कभी नहीं होता, वह मरने के अनन्तर मुक्त हो जाता है उसी बात को आगे का श्लोक वर्णन करता है।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा । अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥१२॥

परमात्मा से प्राण की उत्पत्ति, उसका शरीर में आना और उसका भिन्न २ इन्द्रियों में रहना, उसका शरीर में व्याप्त होना और पांच प्रकार से अन्दर और बाहर व्याप्त होना जान कर मनुष्य मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

॥ तृतीय प्रश्न समाप्तः ॥

चतुर्थ प्रश्नः ।

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

कौसल्य ऋषि के पूछने के अनन्तर सूर्य नामक ऋषि के प्रपौत्र गार्ग्य ने महर्षि पिप्पलाद से पूश्न किया कि हे भगवन् ! इस शरीर में कौन २ सोते हैं ? और कौन २ जागते रहते हैं ? और वह कौनसा देव है जो सोते हुए स्वप्नों को देखता है ? यह भी बताइये कि नींद में सोते हुए सुख किस को होता है ? और वह कौन है जिस की सत्ता से सब स्थित रहते हैं ?

तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति । ताः पुनः

पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वैतत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥२॥

महर्षि पिप्पलाद बोले कि हे गार्ग्य ! जैसे अस्त होते हुए सूर्य की सारी किरणें इस सूर्य मण्डल में ही इकट्ठी हो जाती हैं, और सूर्य के उदय होने पर वे फिर फैल जाती हैं, इसी तरह सारा इन्द्रिय मण्डल अपने से सूक्ष्म विषयों के प्रकाशक मन में लीन हो जाता है, इसलिये सोते समय यह मनुष्य नहीं सुनता न देखता है, न सूंघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न हाथ से पकड़ता है, न मैथुन करता, न मल-मूत्र त्यागता, न पैरों से चलता है बल्कि ऐसा होने पर लोग कहते हैं कि यह मनुष्य सो रहा है।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३॥

इस शरीर में कौन जागता है इस का उत्तर महर्षि पिप्पलाद ने इस प्रकार दिया—कि इस देह रूपी नगर में विषयों के प्रकाश करने वाले अग्नियों के समान जीवन के रक्षक प्राण ही जागते रहते हैं जो अग्नि विवाह के समय अग्नि होत्रादि यज्ञ के लिये ली जाती है उसे गार्हपत्याग्नि कहते हैं, शरीर में अपान का नाम ही गार्हपत्य है। यज्ञ के लिये जिस अग्नि से भात आदि

पकाया जाता है उसे अन्वाहार्यपचन अथवा दक्षिणाग्नि कहते हैं देह में व्यान ही दक्षिणाग्नि है, जो अग्नि गार्हपत्याग्नि से हवन के लिये हवन-कुण्ड में लाई जाती है वह आहवनीय है सो ब्रह्मचर्याश्रम में यज्ञादि से आहवनीय प्रबल होता है, इसीलिये इसी का नाम प्राण है क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम में सब धातुओं की पुष्टि होती है और प्राण का बल बढ़ता है।

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानो मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४॥

सोते समय समान और उदान क्या काम करते हैं, अब यह बताया जाता है। जो ये श्वास प्रश्वास हैं यानी सांस का भीतर बाहर आना जाना है ये ही २ आहुतियां हैं, सांस के ठीक आने जाने से शरीर सम होता है। इसी से अन्न पचता है इस लिये जो वायु यह कार्य करता है वही समान है। मन ही यजमान है, उसकी स्थिरता से ही समाधि की सिद्धि होती है। ध्यान का इष्ट फल ही उदान है, वह उदान ही इस जीवात्मा को सुषुप्ति और समाधि में प्रतिदिन ब्रह्म को प्राप्त कराता है।

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनःपुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥५॥

कौन देव स्वप्नों को देखता है इस प्रश्न का उत्तर अब दिया जाता है। स्वप्न समय में यह प्रकाश्य जीवात्मा अनेक प्रकार के विषयों को देखता है, जो चीजें जागते समय में देखी हैं उन सबको स्वप्न में भी वैसा ही देखता है। सुनी हुई बातों को प्रत्यक्ष के समान सुनता है, और देशों और दिशाओं में जो कुछ अनुभव किया है उसको उसी प्रकार स्वप्न में भी अनुभव करता है। देखे हुए और न देखे हुए, सुने हुए और न सुने हुए, जाने हुए और न जाने हुए तथा जो इस जन्म में विद्यमान है या जन्मान्तर सम्बन्धी बातें हैं उनको उस सबको देखता है, स्वप्न उन सब बातों को प्रत्यक्ष देखता है।*

स्वप्न उसी विषय का आता है जिसको प्रत्यक्ष देखा है वा सुना है, जन्म के अन्धे मनुष्य को रूप का और जन्म के बहिरे को शब्द का स्वप्न कभी नहीं आता, हां देखी सुनी बातों में एक जगह का सम्बन्ध दूसरी जगह अवश्य जोड़ा जा सकता है, जैसे किसी ने देहली कभी नहीं देखी, सुनी मात्र है तो उसे देहली में वे ही चीजें दीखेंगी जो उसने अपने नगर में देखी हैं, वेदान्ती कहते

* स्वामी शंकराचार्य जी, व स्वा० सत्यानन्द जी आदि ने देव शब्द से मन का ग्रहण किया है, अर्थात् स्वप्न देखने वाला मन है ऐसा लिखा है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि स्वप्न देख ने में मन स्वतन्त्र हो तो जाग्रत् अवस्था में भी वह स्वतन्त्र होना चाहिये और यदि मान लिया जावे तो आत्मा की फिर आवश्यकता क्या रही। निरात्म वाद का प्रसंग आता है। जैसे जाग्रदवस्था में मन एक साधन है वैसे ही स्वप्न में भी वह एक साधन मात्र है।

हैं कि अपना कटा हुआ सिर भी मनुष्य देखता है जो उसने कभी नहीं देखा, किन्तु इसमें भी सम्बन्ध का जोड़ना ही पाया जाता है। अपना सिर कटा न देखा हो किन्तु और किसी का तो देखा ही होगा, सिर्फ उस दूसरे के कटे सिर का सम्बन्ध अपने सिरसे कर लिया है।

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीरे एतत्सुखं भवति ॥६॥

वस जब वह स्वप्न देखने वाला आत्म तेज से दब जाता है अर्थात् आत्मा का तेज तन्द्रा के ऊपर अपना अधिकार कर लेता है तब मनुष्य (गाढ़ निद्रा की गोद में चला जाता है) और तब वह स्वप्न नहीं देखता और उस सुषुप्ति अवस्था का सुख लेने लगता है।

स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥७॥

महर्षि पिप्पलाद बोले प्यारे गार्ग्य ! जैसे पक्षी इधर उधर उड़ फिर कर सायंकाल के समय अपने बसने के वृक्ष पर पुनः आ जाते हैं और चुपचाप सो जाते हैं। इसी तरह वे सारी इन्द्रियों की वृत्तियां जो स्वप्न में अपना काम करती रहती हैं। सुषुप्ति अवस्था में आत्मा में लीन हो जाती हैं और तब मनुष्य को कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। इसी तरह हे गार्ग्य ! यह सारा चराचर जगत् भी जब प्रलय काल उपस्थित होता है तब परब्रह्म में लीन होकर अवस्थित हो जाता है।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजो मात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

उस समय यह स्थूल पृथिवी और उसकी मात्रा, जल और जल की मात्रा, अग्नि और अग्नि की मात्रा, वायु और उसकी मात्रा, आकाश और उसकी मात्रा, परमात्मा के गर्भ में लीन हो जाते हैं। ऐसे ही नेत्र और उसका विषय देखना, कान और शब्द, नाक और उसका विषय सूंघने योग्य पदार्थ, जीभ और उसके विषय चखने योग्य पदार्थ त्वचा और उसका विषय, वाणी और बोलना, हाथ और पकड़ना उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) और उसका विषय आनन्द, गुदा और मलका त्याग, पैर और चलना, मन और मनन योग्य विषय, बुद्धि और उसका विषय, अहङ्कार और उसका विषय, चित्त और चित्त का विषय, शरीर में व्याप्त तेज और प्रकाशित करने योग्य पदार्थ प्राण, और प्राणों के सहारे रहने वाले सब अंग सुषुप्ति अवस्था में साक्षि भूत आत्मा में लीन होकर शान्त हो जाते हैं।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥९॥

यही आंख से देखने, त्वचा से स्पर्श करने, कान से सुनने, नाक से सूंघने, जीभ से चखने, मनसे मनन करने, बुद्धि से समझने और कर्मेन्द्रियों से कर्म करने वाला ज्ञान स्वरूप आत्मा है। वह आत्मा भी समाधि और सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा में ही स्थित हो जाता है।

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

हे परम प्रिय गार्ग्य ! जो मनुष्य अन्धकार रहित, शरीर रहित, रंगरहित, प्रकाश रूप, उस अविनाशी ईश्वर को जान लेता है, वह निश्चय उसको प्राप्त होता है, और वह धर्माधर्म सत्यासत्य के तत्व का पूर्ण ज्ञाता हो जाता है, इसी विषय में यह आगे का श्लोक कहा है।

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥११॥

हे प्रिय शिष्य ! जब विज्ञान स्वरूप जीवात्मा, सारी इन्द्रियों के साथ उस प्रभु में प्रतिष्ठित हो जाता है जिसमें पृथिवी आदि भूत और प्राण ठहरे हुए हैं, और उस अक्षर अविनाशी परमात्म देव को जो यथार्थ रूप में जान लेता है, वह मनुष्य सारे विषयों का यथार्थ ज्ञाता हो जाता है और वह प्रकृति के सारे सूक्ष्म भेदों में प्रवेश कर लेता है।

॥ चतुर्थं प्रश्न समाप्तः ॥

पंचम प्रश्नः ।

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ ॥ स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

इसके अनन्तर शिवि के पुत्र सत्यकाम ऋषि ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा कि हे भगवन्! जो कोई मनुष्य मरने तक ओंकार का ही ध्यान करता रहे वह उस ध्यान से कौन से लोक को जीत लेता है।

तस्मै स होवाच ॥ एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

महर्षि ने कहा हे सत्यकाम! यह जो ओंकार है यही पर और अपर ब्रह्म* है। इस लिये विद्वान् पुरुष परापर की उपासना से उसी के अनुसार फल प्राप्त करता है।

---

* यहां पर और अपर शब्दों का यह आशय नहीं है कि ब्रह्म दो प्रकार का है। अपितु जब उपासक धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिये ब्रह्म की उपासना करता है तब वह अपर ब्रह्म कहाता है और जब मोक्ष की इच्छा से उसका आराधन करता है तब उसे परब्रह्म कहते हैं।

वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः, प्राणः सामवेदः शतपथ—अर्थात् वाक्कर्म प्रधान ऋग्वेदः मनः कर्म प्रधानो यजुर्वेदः प्राण क्रिया प्रधानः सामवेदः। वागेव भूर्लोकः मनो भुवर्लोकः, प्राणः स्वर्लोकः—इनका यथाक्रम सम्बन्ध सब में लगा लेना चाहिये।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३

वह ईश्वर भक्त यदि ओंकार की एक मात्रा "अ"* का ही ध्यान करे तो वह ब्रह्म की अति अल्प उपासना से प्रबुद्ध होकर शीघ्र ही उत्तम कुल में जन्म लेता है, उसको ऋग्वेद रूपी १ मात्रा की स्तुतियां मनुष्य जन्म में ले जाती हैं, उस मनुष्य जन्म में वह तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा से सम्पन्न होकर परमात्मा की महिमा का अनुभव करता है यह वाणी से उपासना का फल कहा ।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते । स सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूयपुनरावर्तते ॥ ४ ॥

और यदि कोई उपासक मन और वाणी द्वारा "अ" "उ" इन दो मात्राओं का ध्यान करे तो वह मानस कर्म प्रधान यजुर्वेदीय उपासना से युक्त होता है, और वह उपासना उसे उन्नतशील

---

* मनुस्मृति में लिखा है कि अ, उ, म, इन तीन अक्षरों को ऋगादि ३ वेदों से निकाल कर परमेश्वर ने मिलाकर ओम् नाम रखा है, कर्म उपासना, ज्ञान, ये वेद के मुख्य विषय हैं, भूः, भुवः, स्वः, ये ३ श्लोक हैं इन सब की यथाक्रम सम्बन्ध है—प्रथम मात्रा के ध्यान का आशय है ब्रह्म का बहुत थोड़ा ध्यान करना उस थोड़े ध्यान का भी फल मनुष्य जन्म प्राप्त होना है और जन्म भी उत्तम कुल में होता है ।

अन्तरिक्ष के सोम लोक को प्राप्त करा देती है, वह ध्यानी वहाँ के आनन्द का अनुभव करके फिर मनुष्य जन्म में लौट आता है यहां मन वाणी दोनों की उपासना का फल कहा ।

यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥

और जो मनुष्य ३ मात्रा वाले ओम इस अक्षर से परब्रह्म का ध्यान करे तो वह उपासक मरण समय में तेज से युक्त सूर्य अर्थात सिर में रहने वाले प्राण से युक्त होकर पापों से इसी प्रकार मुक्त हो जाता है जैसे सांप कांचुली से छूट कर निर्मल हो जाता है—वह उपासक प्राणों के साथ ब्रह्म को प्राप्त होता है और तब इस जीव लोक से ऊपर पर से भी पर अर्थात् परम सूक्ष्म ब्रह्माण्ड पति पूर्ण परमेश्वर को अपनी ज्ञान चक्षुओं से देखता है—इसी को ये आगे के २ श्लोक वर्णन करते हैं—इस प्रकार महर्षि ने यह बताया कि जो मनुष्य मन वाणी और कर्म अथवा ज्ञान, कर्म उपासना इन तीनों से युक्त होकर परमात्म चिन्तन करता है वही मुक्ति धाम का अधिकारी होता है शेष दोनों जन्म मरण के चक्र में पड़े रहते हैं ।

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥

तीनों मत्राएं (अ, उ, म्) जो परस्पर मिली हुई हैं और जिनका ध्यान के समय एक साथ ही उपयोग होता में ये उच्चारण के अनन्तर नष्ट हो जाती हैं उपासक को इनसे अमर फल नहीं प्राप्त होता किन्तु जब वह वाह्य यानो वाचिक आभ्यन्तर अर्थात् मानसिक तथा मध्य अर्थात् कर्म संयुक्त क्रियाओं में भले प्रकार योग युक्त होकर ध्यान धरता है तव वह योगी ज्ञान योग में तत्पर हुआ कभी चलायमान नहीं होता, उसका ध्यान स्थिर और वृत्तियां निश्चल हो जाती हैं—वह जाग्रत स्वप्न सुपुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को समाधि द्वारा एक रूप वना लेता है ।

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं ससामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७ ॥

वह योगी ऋग्वेद के मन्त्रों से मनुष्य लोक और यजुर्वेदाभिप्राय रूप मानस कर्म से अन्तरिक्ष लोक तथा साम वेद के मन्त्रों से उस लोक को प्राप्त होता है जिसे ज्ञानी जन ही जानते हैं, उस ब्रह्म लोक को उपासक ओंकार शब्द वाच्य ब्रह्म की आराधना से ही प्राप्त होता है और वह उस ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है जो शान्त, अजर, अमृत, अभय और परम है जिसके आगे और कोई ज्ञातव्य और ध्यातव्य नहीं है ।

॥ पञ्चम प्रश्न समाप्तः ॥

षष्ठ प्रश्नः ।

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ ॥ भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत् । षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

सत्य काम के प्रश्न के अनन्तर भारद्वाज के पुत्र सुकेशा नामक ऋषि ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया हे भगवन्! एक बार कोसल देश के राजपुत्र हिरण्य नाभ ने मेरे पास आकर यह प्रश्न किया कि भारद्वाज! क्या तुम १६ कला वाले पुरुष को जानते हो मैंने उस कुमार से कहा कि मैं उसे नहीं जानता। यदि मैं जानता तो तुमको क्यों न बतलाता, क्योंकि जो मनुष्य झूंठ बोलता है वह पुत्र पौत्रादि मूल सहित नष्ट हो जाता है, इसलिये मैं झूंठ नहीं बोल सकता, बस राजपुत्र यह सुनकर चुपचाप अपने रथ पर चढ़कर चला गया, सो वही प्रश्न अब मैं आपसे) पूछता हूँ कि वह १६ कला वाला पुरुष कहां है ।

तस्मै स होवाच ॥ इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥२॥

महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर दिया कि—हे सौम्य! इसी शरीर में व्याप्त वह पुरुष है जिसमें ये १६ कलाएं प्रकट होती हैं। यहां पुरुष शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों लेने चाहिये ।

स ईक्षांचक्रे ॥ कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥३॥

उसने चिन्तन किया कि किसके प्रकट होने पर मैं प्रकट होऊंगा और किसके स्थिर होने पर मैं स्थिर होऊंगा, यहाँ ईश्वर की नित्य इच्छा का नाम ही ईक्षण है, भगवान् के ईक्षण से ही इस जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है यही यहां आशय है ।

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वीन्द्रियम् ॥ मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपा मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु नाम च ॥४॥

उस सर्व शक्तिमान् भगवान् ने अपनी इच्छा से सबके कारण भूत प्राण को रचा, उस प्राण से श्रद्धा को वनाया । तदन्तर आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, और इन्द्रियों को बनाया फिर मन रचा, फिर अन्न उत्पन्न किया, अन्न से बल, फिर तपज्ञान रचा, पीछे मंत्र अर्थात् श्रुतियां प्रकट कीं, फिर कर्म, लोक, और लोकों में नाम रचा गया ।

आशय यह है कि यह सारी सृष्टि १६ कलाओं की है, १६ कलाओं का समुदाय ही विश्व है और ये १६ कलाएं भगवान् में होने से जगदीश्वर भी १६ कला वाला है ।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते ॥ एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं

प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥५॥

सो हे सुकेशा! जिस तरह ये सारी नदियां बहती हुई समुद्र की ओर ही जाती हैं और वहां जाकर समुद्र में ही लीन हो जाती हैं, उस समय उनके नाम रूप सब मिट जाते हैं और उनको समुद्र ही कहा जाता है, इसी तरह उस सर्वज्ञ सबके द्रष्टा परमात्मा की ऊपर कही १६ कलाएं उसी परमेश्वर से प्रादुर्भूत होकर फिर उसी में अस्त हो जाती हैं। उनके नाम रूप सब मिट जाते हैं उस समय केवल ईश्वर ही कहने योग्य रह जाता है, बस यही पुरुष कला रहित और अमृत है। उसी पर यह श्लोक कहा है।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥६॥

रथ के धुरे में जैसे अरे लगे रहते हैं। इसी तरह उस ब्रह्म में सारी कलाएं ठहरी हुई हैं उस जानने योग्य पुरुष को तुम जानो जिससे तुमको मृत्यु पीड़ित न करे।

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ॥७॥

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे कहा मैं उस परब्रह्म को इतना ही जानता हूँ इससे आगे जानने योग्य कुछ भी नहीं है।

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥७॥

वे विनीत शिष्य उस ऋषि की पूजा करते हुए बोले, आप ही हमारे पिता हैं, आप ही ने हमको अविद्या के परले पार उतारा है। परम ऋषियों को नमस्कार हो, परम ऋषियों को नमस्कार हो ।

॥ छठा प्रश्न समाप्तः ॥

प्रश्नोपनिषद् समाप्तः ।

मुण्डकोपनिषत् भाष्यम् ।

प्रथम खण्ड ।

मुण्ड कोपनिषद् अथर्ववेद की उपनिषद् है। मुण्ड का अर्थ सिर है और सिरके समान सर्वोच्च ब्रह्म ज्ञान का इसमें वर्णन होने से इसका नाम मुण्डक पड़ गया है इसको मन्त्रोपनिषद् भी कहते हैं।

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ॥ स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

देवों के बीच में सबसे प्रथम ब्रह्मा प्रकट हुआ, जो सारे जगत् का कर्त्ता और सब भुवनों का रक्षक है, उसने सब विद्याओं में प्रधान ब्रह्म विद्या अपने बड़े पुत्र अथर्वा को बतलाई।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचांगिरे ब्रह्मविद्याम् ॥ स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽगिरसे परावराम् ॥२॥

ब्रह्मा ने जो विद्या अथर्वा को बताई थी, अथर्वा ने वही विद्या प्राचीन काल में अंगिर को बताई थी, और उसने भारद्वाज़ गोत्री सत्यवाह् को उसका उपदेश किया तथा भारद्वाज ने परा-वरा विद्या अंगिरा को बताई।

शौनको ह वै महाशालोऽगिंरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीत ॥३॥

पूर्व समय में शौनक नाम का एक बड़ा धनाढ्य गृहस्थी अंगिरा के पास आया, और उसने विधि पूर्वक नमस्कार आदि करके पूछा, हे भगवन! वह क्या चीज है जिसके जान लेने से यह सारा संसार जान लिया जाता है?

तस्मै स होवाच ॥ द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्म-विदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥

महर्षि अंगिरा ने कहा कि ब्रह्म के जानने वाले कहते हैं कि दो विद्याएं जानने के योग्य हैं। एक परा और दूसरी अपरा।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ॥ अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

उसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष तो अपरा विद्या है क्योंकि इनसे सारा व्यवहारिक ज्ञान होता है, और परा विद्या वह है जिससे उस अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

जो न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसका कोई गोत्र नहीं, वर्ण नहीं, जिसके न नेत्र हैं, न कान, न हाथ पैर, जो नित्य है, व्यापक है, सर्वत्र विद्यमान है, जो अत्यन्त सूक्ष्म, और विनाश रहित है उसी को विद्वान् मनुष्य सारे जगत् का कारण जानते हैं वह ब्रह्म है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥७॥

जैसे मकड़ी जाले को अपने अन्दर से बनाती है। और फिर उसे अपने अन्दर ही समेट लेती है, जिस तरह पृथ्वी पर वनस्पतियां पैदा होती हैं, और जिस तरह जीवित मनुष्य से बाल और रोम पैदा होते हैं। इसी तरह हर एक चीज़ जो इस संसार में है उस विनाश रहित ब्रह्म से पैदा होती है।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

ब्रह्म ज्ञान के द्वारा सृष्टि में प्रकट होता है—और विचार करने के पश्चात् उसी ब्रह्म से अन्न अर्थात् मादा या जगत् उत्पन्न होता है आशय यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म में नित्य इच्छा

प्रकट होती है जिसे ईक्षण भी कहते हैं उसके पीछे प्राकृत् जगत् उत्पन्न होता है अन्न से प्राण (महत्तत्व) फिर मन (अन्तः करण) पश्चात् सत्य अर्थात् (पञ्च महाभूत) और उसके पीछे लोक लोकान्तर, मनुष्यों के शरीर और उनके कर्म तथा कर्मों के फल जो कि प्रवाह से नित्य होने के कारण अमृत कहाते हैं प्रकट होते हैं।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ ६ ॥

जो परमात्मा सब को जानता है और सब पदार्थों में विद्यमान है, जिस का तप ज्ञान स्वरूप है उसी भगवान् से यह ब्रह्म अर्थात् वेद और वेद के द्वारा नाम रूप तथा जगत् का ज्ञान होता है।

मुण्डके प्रथम खण्ड समाप्तः ।

द्वितीय खण्ड

अब इस खण्ड में अपरा विद्या का वर्णन करते हैं।

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

सो यह सत्य है कि ऋषियों ने वेद के मन्त्रों में जो सत्य भाषण और अग्नि होत्रादि कर्मों को देखा है वे सब कर्म तीनों वेदों में बहुत तरह से वर्णित हैं, सचाई से प्यार करने वाले हे मनुष्यो ! उन कर्मों को तुम नियम पूर्वक करो, पुण्य लोक में ले जाने वाला यह तुम्हारा रास्ता है।

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम्॥२॥

महर्षि अंगिरा अग्नि होत्र का वर्णन करते हैं जब प्रदीप्त अग्नि में लपटें निकलने लगें तब आज्य भाग नामक दो आहुतियें देने के पीछे विधि पूर्वक अग्नि में आहुतियें डाले ।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३ ॥

जिस मनुष्य का अग्नि होत्र दर्श, पौर्णमास, चौमासा और शरद् ऋतु के यज्ञ विशेप के विना होता है, जिसके घरमें अतिथि सत्कार न हो, जो ठीक समय पर हवन न करे, जिसके यहां वैश्वदेव नामक यज्ञ न होता हो और जो श्रद्धा पूर्वक यज्ञ न करे वह अग्निहोत्र उस यजमान के सातों लोक नष्ट कर देता है उसको कुछ भी उस कर्म का फल नहीं मिलता ।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः॥४॥

अग्नि की लपटें सात प्रकार की होती हैं। काले रङ्गकी १, भयङ्कर २, मनके समान चञ्चल ३, अधिक लाल ४, धुएं के रङ्ग

नोट–सात लोक—श्रवण, मनन, निदिध्यासन, शम, दम, तितिक्षा, वैराग्य कहाते हैं।

वाली ५, चिनगारियों वाली ६, सब रङ्गों वाली ७, देखने योग्य और प्रकाश मान ये अग्नि की ७ जीभ कहलाती हैं।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥

इन चमकती हुई अग्नि की शिखाओं में जो यजमान ठीक समय पर आहुतियें देता हुआ कर्म को पूरा करता है, उसको ये आहुतियें सूर्य की किरणों में पहुँच कर संचित कर्म रूप वनके वहां पहुँचा देती हैं। जहां समाधि द्वारा विद्वानों का रक्षक एक अद्वितीय सब जगत् का आधार परमात्मा साक्षात् जाना जाता है।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानंवहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ६॥

सुन्दर प्रकाश को उत्पन्न करने वाली संचित आहुतियें, आओ, आओ इस तरह बुलाती हुईं और प्रिय वाणी बोलती हुईं, तथा पूजती हुईं, उस विद्वान् यजमान को सूर्य की किरणों द्वारा मुक्ति दशा को प्राप्त करा देती हैं। और यह कहती हैं कि यह तुम्हारा शुभ कर्मों से उपार्जित पवित्र ब्रह्म लोक है जिसको तुमने अपने कर्मों से पा लिया है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्तिमूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥७॥

ये यज्ञ रूप नौकाएं जिनमें इन्द्रियों के नीचे दर्जे के सांसारिक कर्मों के फल प्राप्त होते हैं दृढ़ नहीं हैं, संसार सागर

से तारने में ये समर्थ नहीं हैं जो मूर्ख मनुष्य उसी यज्ञकी प्रशंसा करते हैं वे वार २ जरा और मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥८॥

अज्ञान में फंसे हुए किन्तु अभिमान से अपने को धीर तथा पण्डित मानने वाले मूर्ख लोग चोटें खाते हुए इस संसार में इसी तरह चक्कर लगाते रहते हैं जैसे अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे भटकते हैं ।

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ॥ यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

अविद्या में रमने वाले मूर्खों को यह अभिमान होजाता है कि हम कृतार्थ हो गए। किन्तु राग पूर्वक कर्म करने वाले परमात्म तत्व को नहीं जानते इसलिये जब उनका यह लोक जो उन्होंने अपने कर्म से प्राप्त किया है क्षीण हो जाता है तब वे उस लोक से गिर जाते हैं ।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वाविशन्ति ॥१०॥

जो मूर्ख मनुष्य इष्ट (यज्ञ और पूर्त) कुए, बावड़ी आदि बनाने को ही सर्वोत्तम समझते हैं और कहते हैं कि इनसे अधिक कल्याण कारक और कोई काम नहीं है वे स्वर्ग के सुखों को भोग

कर इस मनुष्य लोक अथवा इससे भी हीन पशु आदि लोक में पहुँच जाते हैं।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

किन्तु जो मुनिजन तप और श्रद्धा को धारण करके वन में निवास करते हैं, जो शान्त विद्वान् भिक्षा वृत्ति धारण करते हैं वे निष्पाप होकर (सूर्य द्वारेण) अर्थात् मूर्द्धा में रहने वाली प्राण नाड़ी द्वारा मरण समय में वहां जाते हैं जहां अविनाशी नित्यमुक्त अमृत पुरुष है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठम् १२

इसलिये—यज्ञादि कर्मों से प्राप्त स्वर्गादि लोकों को अनित्य जानकर वेदज्ञ ब्राह्मण उनसे विरक्त हो जावे, क्योंकि यह निश्चय है कि विनाश रहित आत्मा किए हुए कर्म से प्राप्त नहीं होता, उसके जानने के लिये वह जिज्ञासु हाथ में समिधा या भेंट लेकर किसी ब्रह्मज्ञ और वेद के ज्ञाता गुरु के पास जावे।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ॥ येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

वह विद्वान् गुरु, उस शान्त चित्त वाले, शमादि से युक्त, और भक्ति पूर्वक पास आए हुए शिष्य को उस ब्रह्म विद्या का उपदेश कर जिसके द्वारा उसने अविनाशी सत्य पुरुष को जाना है।

इति प्रथम मुण्डके द्वितीय खण्ड समाप्तः ॥

द्वितीय मुण्डक-प्रथम खण्ड

अब अंगिरा ने प्रथम सृष्टि के उपादान कारण का वर्णन किया।

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥

सो यह सत्य है कि जैसे प्रचण्ड अग्नि से उसी के तुल्य हजारों चिनगारियां निकलती हैं इसी प्रकार हे प्यारे! उस अक्षर अर्थात् स्वरूप से नाश रहित प्रकृति से कार्य पदार्थ उत्पन्न होकर फिर उसी में लय हो जाते हैं।

दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥

किन्तु वह अविनाशी भगवान् दिव्य है और शरीर रहित है वह बाहर और अन्दर दोनों जगह है। वह जन्म नहीं लेता, प्राण और मन रहित है शुद्ध है, और वह प्रकृति से भी परे है। यही ईश्वर की प्रकृति से भिन्नता है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्यधारिणी ॥३॥

उसी निमित्त कारण रूप ईश्वर से प्राण, मन और सारी इन्द्रियें उत्पन्न होती हैं, आकाश, वायु, अग्नि, जल और सब को धारण करने वाली पृथ्वी भी उसी से उत्पन्न होती है ।

अब विराट् रूप का वर्णन करते हैं ।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व भूतान्तरात्मा ॥४॥

द्युलोक इस पुरुष का सिर के समान है, सूर्य और चन्द्रमा इसके नेत्र के समान हैं दिशाएं कान और विस्तृत वेद जिसकी वाणी हैं, वायु जिसका मानो प्राण है, सब चराचर जगत् इस का हृदय है, पृथ्वी इसके पांव हैं, यही पुरुष सब भूतों का अन्तरात्मा है ।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः ॥५॥

उस परमेश्वर से भौतिक स्थूल अग्नि उत्पन्न होता है, जिस अग्नि का सूर्य समिधाओं के समान जलाने वाला है, चन्द्रमा से बादल बनते हैं, और मेघ के जल से पृथ्वी में औषधियां उत्पन्न होती हैं, उन अन्नरूप औषधियों को खाकर पुरुष स्त्री में वीर्य

सेचन करता है जिससे मनुष्य उत्पन्न होते हैं इस तरह परमेश्वर से मनुष्यादि प्राणी उत्पन्न हुए हैं ।

तस्मादृचः साम यजूꣳषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च । संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६॥

उसी पुरुष से ऋग्वेद के मन्त्र, साम और यजु के मन्त्र, दीक्षाएं, सारे अग्निहोत्रादि यज्ञ तथा अग्निष्टोमादि महायज्ञ और दक्षिणाएँ उत्पन्न हुईं । काल का विभाग, यजमान और वे लोक जिन में सूर्य तथा चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं उसी से उत्पन्न हुए ।

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयाꣳसि । प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥

उसी परमेश्वर से आदि सृष्टि में देव (विद्वान् ऋषिगण) उत्पन्न हुए उसी से साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षिगण, उसी से श्वास, प्रश्वाश, चावल, जौ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और कर्त्तव्या-कर्त्तव्य की विधि का विस्तार हुआ ।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः । सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

उसी परब्रह्म से दो कान, दो नाक के छिद्र, दो आँखें, एक वाणी इस प्रकार सात प्राण प्रकट हुए उसीसे सात ज्वालाएँ अर्थात् इन्द्रियों का अपने अपने विषय का प्रकाश करना और सात प्रकार के विषय और सात होम अर्थात् विषयों का विज्ञान और सात ये लोक अर्थात् सिर के छिद्र जिन में सात इन्द्रियाँ रहती हैं और

सात वे प्राण जो निद्रा के समय अन्तःकरण में सो जाते हैं प्रत्येक शरीर में उत्पन्न किए हैं ।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥

इसी पुरुष से समुद्र और सारे पर्वत उत्पन्न हुए, इसी की शक्ति से सारी नदियाँ बहती हैं, इसी से सारे अन्न और रस उत्पन्न हुए कि जिस रस और पञ्च महाभूतों के अंश मांसादि धातुओं से घिरा हुआ इस स्थूल देह में आत्मा रहता है।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य १०॥

महर्षि अङ्गिरा ने कहा कि हे प्यारे शौनक ! क्रिया, ज्ञान और नित्य वेद तथा सारा जगत् उसी परब्रह्म के आधार से ठहरा हुआ है। बस जो मनुष्य उस ब्रह्म को अपनी हृदय-रूपी गुहा में स्थित जानता है वह अज्ञान की गाँठ को काट देता है, अर्थात मुक्त होजाता है ।

इति द्वितीय मुण्डके द्वितीय खण्ड समाप्तः ।

द्वितीय खण्ड ।

इस खण्ड में महर्षि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

आविः संनिहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ।

वह ज्ञानियों के हृदय में प्रकट है, सदा सब के समीप और ज्ञानियों की बुद्धि में वर्त्तमान रहता है, वह सब से बड़ा सब का परम धाम है, उसी के अन्दर यह गतिमान् जगत्, प्राण लेने वाला और लय हो जाने वाला स्थित है जिसे तुम स्थूल और सूक्ष्म देखते हो; बस वही पूजा के योग्य है, सब से श्रेष्ठ है, और सब प्रजा की समझ से परे है ।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वांमनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥२॥

हे प्यारे शौनक ! वह ईश्वर प्रकाश मय है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है उसमें सारे लोक और लोक वासी निवास करते हैं, वह विनाश रहित महान है, वही प्राण है, वही वाणी और मन है, वही सत्य है, अमृत है, वही निशाना लगाने योग्य है, उसी का ध्यान करो उसी को जानो ।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥३।

उपनिषद् द्वारा वर्णन किए हुए महा अस्त्ररूप धनुष को पकड़ कर उसमें उपासना से तेज किए हुए वाण को चढ़ाना चाहिये और फिर भगवान् में तन्मय भाव से धनुष को खींचकर उस अविनाशी निशाने को बींध अर्थात् उसमें तन्मय होकर ध्य न लगा।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४॥

ओम धनुष है, आत्मा वाण है, और ब्रह्म उसका निशाना है. प्रमाद को त्याग कर निशाना लगाना चाहिये, और लक्ष्य में वाण की तरह तन्मय हो जाना चाहिये।

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥५॥

जिस परमेश्वर में, द्युलोक, पृथ्वी और आकाश पिरोया हुआ है, और जिसमें सब प्राणों के साथ मन भी पिरोया हुआ है, उसी एक अन्तर्यामी आत्मा को जानो, और दूसरी बातें छोड़ दो, यह मोक्ष का देने वाला सेतु अर्थात् पुल है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ॥६॥

रथके पहिये की पुट्ठी में जिस तरह अरे जुड़े होते हैं, इसी तरह जहां सब नाड़ियें जुड़ी हुई हैं वहां हृदय में योगादि से

जो आत्मा प्रकट होता है, उस परमात्मा का ओ३म् द्वारा ध्यान करो जिससे अज्ञानान्धकार से पार हो जाओ और तुम्हारा कल्याण हो जावे ।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः । मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय । तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥७॥

जो सब विषयों को जानता, और सबको समझता है इस भूमि पर जिसकी महिमा प्रसिद्ध है, जोकि निर्मल हृदयाकाश में अवस्थित ब्रह्मरन्ध्र नाड़ी में स्थित है, जो मनके द्वारा प्राण और शरीर का संचालक है, जो हृदय का आश्रय करके अन्नरूप निमित्त से शरीर में अवस्थित है, उस आत्मा के ज्ञान से ही धीर पुरुष उस आनन्दरूप अमृत परमात्मा को जानते हैं ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
चीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८॥

उस निर्गुण और सगुण भेद से जानने योग्य ब्रह्म के ज्ञान होने पर हृदय की गांठ खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, और कर्म सब क्षीण हो जाते हैं ।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥९॥

ज्ञान प्रकाश, स्वरूप हृदयाकाश में निर्मल, और निरवयव

ब्रह्म विराजमान है, वह शुद्ध है और सब ज्योतियों का जोति है उसको आत्मज्ञानी जन ही जानते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

उस ब्रह्म को न सूर्य प्रकाशित करता है न चांद और न तारे, न ये बिजलियां प्रकाशित करती हैं तो फिर यह अग्नि उसे कहां से प्रकाश दे, वस्तुतः उसी के प्रकाशित होने पर भी सब प्रकाशित होते हैं, उसी की ज्योति से सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

ज्ञानियों की बुद्धि में यह अविनाशी ब्रह्म ही सामने विद्यमान रहता है, उनको आगे पीछे, दाएं बांएं, नीचे, ऊपर ब्रह्म ही फैला हुआ दीखता है, यह सब सर्वोत्तम ब्रह्म ही है।

इति द्वितीय मुण्डके द्वितीय खण्ड समाप्तः।

तृतीय मुण्डक-प्रथम खण्ड

इस खण्ड में अंगिरा मुनि जीवात्मा और परमात्मा का साथ २ वर्णन करते हैं ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति ॥१॥

दो पक्षी जो सदा साथ रहने वाले मित्र हैं एक ही वृक्ष पर रहते हैं उनमें से एक जीवात्मा प्रकृतिरूप वृक्ष के स्वादु फलों को खाता है और दूसरा परमात्मा न खाता हुआ केवल देखता ही है।

प्रकृतिरूपी महावृक्ष में ईश्वर और जीवात्मा सदैव इकट्ठे रहते हैं ईश्वर और जीवात्मा का व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध नित्य है इसलिये परस्पर दोनों मित्र हैं। भेद केवल इतना है कि-जीवात्मा प्रकृत फल को भोग कर दुःखित होता है और परमात्मा केवल साक्षी रहता है ।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

उसी एक नश्वर जगत में लिप्त हुआ जीवात्मा दुःख के पास से निकलने में अपने को अशक्त देखकर बार २ मोह में पड़-कर दुःखित होता है। और जब अपने से भिन्न ईश्वर को योगियों से सेवित सर्व शक्ति सम्पन्न देखता है और उसकी महिमा को जानता है तब शोक रहित हो जाता है ।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

ज्ञानी मनुष्य जब वेद के प्रकाशक, इस जगत् को रचने वाले प्रकाश स्वरूप, सर्व शक्तिमान, पुरुष को योग समाधि से जान लेता है तब पुण्य पाप को छोड़कर निर्मल होकर भगवान् की समता को प्राप्त होता है।

प्राणोह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

सो उस प्राण स्वरूप प्रभु को जो सब भूतों के कार्य से संसार में प्रकाशित हो रहा है जो विद्वान् जान लेता है वह अधिक बातें नहीं बनाता, सदैव थोड़ा बोलता है, वह ज्ञानवान् भक्त मनुष्य अपनी आत्मा में ही रमने वाला, अपने में ही प्रसन्नता मनाने वाला, कर्त्तव्य पालन करने वाला ब्रह्म जातियों में उत्तम है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषः ॥५॥

वह महा प्रभु सत्य, तप, सत्यज्ञान और ब्रह्मचर्य से ही सदा प्राप्त होता है, शरीर के अन्दर उस प्रकाशमय शुद्ध ब्रह्म को निर्दोष यति लोग ही देखते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥६॥

सदा सत्य की ही जय होती है, झूठ की जीत कभी नहीं होती, विद्वानों का माग सत्य से ही फैला है, जिस रास्ते से पूर्ण

काम, ऋषि लोग चलते हैं वही सत्य का मार्ग है और सत्य के द्वारा वे जहाँ पहुँचते हैं वही सचाई का परमधाम ब्रह्म है।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥

वह परमात्मा महान् है, दिव्य है, उसका रूप अचिन्त्य है, और वह सूक्ष्म से सूक्ष्म तम है, वह दूर से भी दूर है तो भी वह बहुत पास है ज्ञानी योगियों के लिये वह यहीं अन्तःकरण में विराजमान है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

वह परमात्मा न आँख से दीखता है और न वाणी से जाना जाता है, न उसे इन्द्रियों से, तप से या कर्म से जान सकते हैं। ज्ञान की निर्मलता से जब मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। तब ध्यान द्वारा वह उस ब्रह्म को देखता है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

वह परम सूक्ष्म परमात्मा उस चित्त से जाना जाता है जिसमें प्राण अपान आदि पांच प्राण प्रवेश किए हुए हैं। प्राणों के साथ सारी प्रजा का चित्त ओत प्रोत है जिसके शुद्ध हो जाने पर वह प्रभु अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥१०॥

शुद्ध अन्तःकरण वाला योगी मनुष्य जिस २ लोक की मन से कामना करता है और जिन २ मनोरथों को चाहता है, उस २ लोक को और उन मनोरथों को प्राप्त हो जाता है, इसलिये ऐश्वर्य का अभिलाषी मनुष्य आत्मा के जानने वाले भगवद् भक्त की सदा पूजा करे ।

॥ तृतीय मुण्डके प्रथम खण्ड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

वह ज्ञानी मनुष्य इस परम ब्रह्म धाम को जानता है जिसमें यह सारा ब्रह्माण्ड स्थापित है, और उसके प्रकाश से प्रकाशित है, जो भक्त जन निष्काम भाव से उसको भजते है वे इस जन्म मरण के बीज को लांघ जाते हैं ।

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

जो मनुष्य सांसारिक कामनाओं में फंसा हुआ उन ही में लगा रहता है वह उन २ कामनाओं के कारण वहीं २ जन्म लेता

है, परन्तु जिसकी कामनाएं पूरी हो गई हैं और जिस ने आत्मा को पा लिया है उसकी सारी कामनाएं यहीं लीन हो जाती हैं ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥३॥

यह आत्मा उपदेश से नहीं मिलता, वह बुद्धि से और बहुत सुनने से भी प्राप्त नहीं होता, हां जिस पर भगवान् स्वयं अनुग्रह करते हैं वही उसे पाता है, ऐसे कृपा पात्र मनुष्य पर ईश्वर स्वयं अपने को प्रगट कर देते हैं ।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

वह परमात्मा निर्मल मनुष्य से भी नहीं जाना जाता, अथवा पाखण्ड रूप तप से भी वह नहीं मिलता । हां जो विद्वान् बल, कर्म, अप्रमाद आदि उपायों से भजन अभ्यास करता है उसका आत्मा ब्रह्म धाम में प्रवेश करता है ।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥५॥

ऋषिगण उस परम प्रभु को पाकर ज्ञान से तृप्त, आत्मज्ञ वीतराग होकर सब प्रकार से शान्त हो जाते हैं । वे धीर ऋषिजन सर्वव्यापक परमात्मा को पाकर उसके सारे स्वरूप को जान लेते हैं ।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

वेदान्त के ज्ञान से निश्चित अर्थ वाले और सन्यास योग से शुद्ध अन्तःकरण वाले यति जन जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त होकर अन्तिम मृत्यु के समय ब्रह्मलोक में जाकर स्वतन्त्र हो जाते हैं। अर्थात ब्रह्म में मुक्त होकर रहते हैं।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ॥
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥७॥

उस मुक्त पुरुष की (आत्मा को छोड़ कर) शेष प्राणादि १५ कलाएं जिनका वर्णन प्रश्नोपनिषद् के चौथे मन्त्र में किया है अपने कारण में चली जाती हैं, सारी इन्द्रियां सूर्यादि में लीन हो जाती हैं, कर्म और विज्ञान मय आत्मा उस अविनाशी परमेश्वर में जाकर सब एक हो जाते हैं।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥

जैसे बहती हुई नदियां समुद्र में पहुँच कर और अपने नाम रूप को त्याग कर उसी में अस्त हो जाती हैं। इसी तरह मुक्त होने वाला मनुष्य देवदत्तादि नाम और सफेद, काला आदि रूपको त्याग कर उस दिव्य परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

बस वह जो उस परब्रह्म को जानता है। ब्रह्म में रहने से ब्रह्म के सादृश्य को प्राप्त कर लेता है। इसके कुलमें ब्रह्म को न

जानने वाला कोई उत्पन्न नहीं होता, वह शोक को तरजाता है वह पाप को पार कर जाता है और हृदय की गाठों से छूटकर मुक्त हो जाता है।

तदेतदृचाऽभ्युक्तं । क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः । तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

सो यह बात ऋचा द्वारा भी कही गई है कि गुरू इस ब्रह्म विद्या को उन्हीं को बतावे जो कर्म निष्ठ, वेद के ज्ञाता हों, और ब्रह्म में जिनकी पक्की धारणा हो और श्रद्धा पूर्वक (एकर्षि) अर्थात् अग्नि होत्र आदि करते हों और विधि पूर्वक जिन्होंने आथर्वणों का शिरोव्रत धारण किया हो, अथवा जिन्होंने धर्म का धारण अपने सिर लिया हो।

तदेतत्सत्यमृषिरंगिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

सो इस ब्रह्म विद्या को अंगिरा ऋषि ने पहिले कहा अर्थात् उसी ने इसको प्रकाशित किया, व्रतहीन मनुष्य इसको नहीं पढ़ते, परम ऋषियों को नमस्कार हो परम ऋषियों को नमस्कार हो।

॥ तृतीय मुण्डके द्वितीय खण्ड समाप्तः ॥

❀ अथर्व वेदीय मुण्डकोपनिषत् समाप्तः ❀

अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषत् ।

इस उपनिषद् के बनाने वाले माण्डूक्य ऋषि हैं, और इसका सम्बन्ध अथर्व वेद से है, यह उपनिषद् यद्यपि सबसे छोटी है तथापि इसका महत्व बड़ा भारी है क्योंकि इस उपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का बड़ा विशद वर्णन किया है।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भ-विष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१॥

यह जो कुछ दीखता है वह सब ओ३म् अक्षर की ही विभूति है। उसका व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं, भूत, भविष्यत्, और वर्त्तमान काल युक्त सब ओंकार को ही प्रकाशित कर रहा है, और जो तीनों कालों से परे है वह भी ओंकार ही है। अभिप्राय यह है कि सारे विश्व में ब्रह्म व्यापक है इस लिये सारा विश्व भगवान् का शरीर है। उसी की इच्छा से इस नाम रूप जगत् की रचना हुई है, उस भगवान् का एक मात्र नाम ओ३म् है और ईश्वर इस जगत से कभी पृथक् नहीं होता इस लिये यह सब जगत् भी ओ३म् ही कहा गया है।

सर्वꣳ ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

जिसका नाम ऊपर ओ३म् कहा है उसका वाच्य सब ब्रह्म ही है उसमें अन्य किसी का संसर्ग नहीं है।

यह ईश्वर सब से महान् है, और यह ४ पाद वाला है। कोई २ ऊपर के वाक्य का यह अर्थ करते हैं कि यह सब संसार

ब्रह्म है और यह आत्मा ब्रह्म है इसमें सर्व शब्द से आत्मा का भी ग्रहण हो जाता फिर अयमात्मा ब्रह्म यह वाक्य व्यर्थ पड़ता है इस लिये इस वाक्य का यही अर्थ उचित है।

अब क्रमसे उसके ४ पाद का वर्णन करते हैं।

जागरितस्थानो वहिःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का फल देना रूप जिसकी जागरण दशा है, संसार की व्यवस्था करने रूप बाहर के काम में जिसकी बुद्धि लगी हुई है, भूः, भुवः, स्वः आदि ७ लोक जिसके ७ अङ्ग के समान है, पञ्च तन्मात्रा, दश इन्द्रियें, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये उन्नीस तत्व जिसके मुख स्वरूप हैं, सब प्राणियों का पालक जो उसका प्रथम पाद है उसको वैश्वानर कहते हैं।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

बीच की प्रलय दशारूप स्वप्न में जिसकी स्थिति है, अपने भीतरी विचार में जिसकी बुद्धि है, ब्रह्माण्ड के ७ लोक जिसके आश्रय हैं, पूर्व कहे हुए १९ तत्व जिसके मुखरूप हैं, जो सूक्ष्म तत्वों का धारक हैं यह उसका तैजस नामक द्वितीय पाद है।

अब महा प्रलय का वर्णन करते हैं :—

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ॥ सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

जिस दशा में मनुष्य सोया हुआ किसी प्रकार की कामना नहीं करता न किसी स्वप्न को देखता है। वह सुपुप्ति की दशा है, महा प्रलय रूप दशा ब्रह्म की सुपुप्त दशा है। उस दशा में जिसकी स्थिति है, अपने ही स्वरूप में अवस्थित होने से एक रूप हुआ, ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय आनन्द का ही भोगने वाला, चेतनता जिसकी मुख के तुल्य है. सब का यथार्थ ज्ञाता है यह उसका प्राज्ञनामक तृतीय पाद है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

यही परमेश्वर, सबका स्वामी है, सर्वज्ञ है, यही अन्तर्यामी है, यह सब चराचर जगत् का कारण है, और सब पदार्थों की उत्पत्ति और प्रलय का मुख्य आधार है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

चौथी निर्बीज समाधि दशा में जिस निर्गुण निराकार ब्रह्मका योगियों को भान होता है उसका वर्णन किया जाता है:—

तुरीय अवस्था में वह ब्रह्म न तो भीतर की तरफ़ ज्ञान वाला, और न बाहर की तरफ़ प्रज्ञा वाला, और न दोनों तरफ़ की प्रज्ञावाला है, न वह ज्ञानमय है न प्रज्ञा वाला है न वह न जानने वाला है, वह देखा नहीं जाता, व्यवहार में नहीं आता,

उसे पकड़ नहीं सकते, उसका कोई चिन्ह नहीं है, उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता, उसे बताया नहीं जा सकता उसकी भेद रहित होने से एक ही आत्मा है ऐसी प्रतीति होती है प्रपञ्च से रहित, शान्त, कल्याण स्वरूप है, उसके तुल्य दूसरा कोई नहीं चतुर्थावस्था को प्राप्त ब्रह्म के इस स्वरूप को ब्रह्मवादी मानते हैं वही ईश्वर सबका स्वामी और वही जानने योग्य है।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

ब्रह्म के चारों पादों का वर्णन करके अब उनके साथ क्रमसे ओंकार की मात्राओं का सम्बन्ध दिखाते हैं।

सो यह आत्मा ओंकार अक्षर है, ओंकार मात्राओं के अधिकार में हैं, ईश्वर के भाग ही ओ३म् की मात्रा, और ओ३म् की मात्रा ही उसके पाद वा अंश हैं। अकार उकार मकार में ३ पाद वा मात्रा हैं।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वा आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

जागरित स्थान वाला वैश्वानर प्रथम पाद है वह अकार प्रथम मात्रा है—अकार का अर्थ है व्याप्ति और आदि, अर्थात् प्रायः वाणी का व्यापार अकार से व्याप्त है और वर्ण माला में यही आदि में आता है। इस लिये निश्चय पूर्वक जो मनुष्य ईश्वर को भी जगत् की स्थिति दशा में जागने वाला, सर्वत्र व्यापक और सबका आदि जानता है वह सारी इच्छाओं को प्राप्त कर लेता है।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

स्वप्न स्थान वाला तैजस उसका दूसरा पाद है, यह ओंकार की दूसरी मात्रा उकार से जाना जाता है, अ और म के बीच में आने से उ का सम्बन्ध दोनों ओर है। इस लिये मध्य में रहने से उकार को ऊँचा स्थान मिला है, बस वह ज्ञानी मनुष्य ज्ञान के विस्तार को और ऊँचा करता है और सबमें समान मिलने वाला होता है, और इसके कुल में ब्रह्मज्ञान विहीन कोई मनुष्य उत्पन्न नहीं होता जो ओं और ब्रह्म के सम्बन्ध को इस प्रकार जानता है।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

सुषुप्त स्थान वाला प्राज्ञ नामक ब्रह्म का तीसरा पाद है। उधर ओं की तीसरी मात्रा मकार है, मकार परिमाण का समाप्ति अथवा लय का बोधन कराता है, म के उच्चारण करते ही ओ३म् की समाप्ति हो जाती है, इसी लिये जो ब्रह्म ज्ञानी पुरुष मकार के साथ ब्रह्म की तुलना करता है अर्थात् जैसे सुषुप्त दशा में जाग्रत् और स्वप्न दशा को समाप्ति हो जाती है. इसी तरह प्रलय दशा में जो परमात्मा को जानता है वही यथार्थ में उसके स्वरूप को जानता है और स्वयं भी शरीर त्याग कर मुक्त हो जाता है।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतं एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥

अमात्र अर्थात् मात्रा का अभाव ब्रह्म का चौथा पाद है और वह उसकी तुरीय अवस्था है, यह निर्गुण ब्रह्म का वर्णन है, इस चौथे पाद का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह उसका प्रपञ्च रहित है, कल्याण कारक और अद्वैत स्वरूप है। इस प्रकार ओंकार परमेश्वर का ही वाचक है। भगवान् का नाम भगवान् ही है, जो ब्रह्म ज्ञानी मनुष्य वाच्य वाचक की एकता को ऐसे जानता है, वह अपने स्वरूप से परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् वह ब्रह्म की समीपता को प्राप्त करके मोक्ष को चला जाता है।

॥ माण्डूक्योपनिषत् समाप्त ॥

यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् !

शिक्षा वल्ली (प्रथम अनुवाक)

ॐ शं नः मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम् । अवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥ (सत्यं वदिष्यामि पञ्च च) ।

हे परमात्मन् हमारे लिये प्राण सुख देने वाला हो, हमारे लिये अपान सुखकारी हो, आंख हमको सुख देवे, सर्वैश्वर्य का स्वामी और समस्त विद्याओं का पति परमेश्वर हमको सुख देने वाला हो, महा पराक्रम युक्त व्यापक परमेश्वर हमारे लिये कल्याण का देने वाला हो, हे प्रभो ! आपको नमस्कार हो, हे सर्वाधार आपको नमस्कार हो, इस संसार की रचना करने के कारण आप ही प्रत्यक्ष के समान सब से बड़े हैं, मैं आपही को सदा ब्रह्म कहूँगा, आपही को शास्त्रानुकूल और सत्य होने से सर्वोपरि मानूंगा, यह सत्य कथन आचार्य की रक्षा करे, भगवान् मेरी रक्षा करे, भगवान् सत्योपदेष्टा की सदैव रक्षा करे, और आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक दुःखों की शान्ति हो ।

प्रथम अनुवाक समाप्तः ।

द्वितीय अनुवाक ।

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्ण स्वरः । मात्रा बलम् । साम संतानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥१॥ (शीक्षां पञ्च) ।

अब हम शिक्षा का वर्णन करेंगे ।

अकारादि वर्ण उदात्तादि स्वर ! ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत मात्राएं ! आभ्यन्तर वाह्य प्रयत्न । मध्यमस्वर से ठीक उच्चारण करना साम, वर्णों का पूर्वा परीभाव सम्बन्ध सन्तान, यह ६ प्रकार से शिक्षाध्याय कहा गया ।

द्वितीय अनुवाक समाप्तः ।

तृतीय अनुवाक ।

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासꣳहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः संधिः वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् ॥१॥

हम दोनों गुरू शिष्य का एक यश हो, हम दोनों का ब्रह्मतेज साथ हो, आगे हम संहिता के रहस्य का कथन करेंगे, उसके ५ अधिकरण हैं । लोक के विषय में, ज्योतिष के सम्बन्ध में, विद्या के सम्बन्ध में, सन्तान के सम्बन्ध में, और देह के सम्बन्ध में, इन पांचों को ही महासंहिता कहते हैं ।

पहिले लोक के सम्बन्ध में कहते हैं, उनमें पृथिवी सबका आधार रूप होने से पूर्व रूप है, सूर्य गौण साधन होने से उत्तर रूप है, पूर्व उत्तर का जिसमें मेल हो वह आकाश सन्धि है, वायु दोनों को मिलाती है। इस प्रकार लोक सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अथाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् । आपः संधिः । वैद्युतः संधानम् । इत्यधिज्यौतिषम् ॥२॥

अब ज्योतिष के सम्बन्ध में कहते हैं, पहिले अग्नि से जल सूक्ष्म होकर सूर्य लोक को जाता है, सूर्य फिर पृथिवी में वर्षा करता है, जलमें दोनों की शक्ति का मेल होता है, बिजली सम्बन्धी तेज उन दोनों का सम्बन्ध कराता है, यह ज्योतिष के सम्बन्ध में कहा।

अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः । प्रवचनꣳ संधानम् । इत्यधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननꣳ संधानम् । इत्यधिप्रजम् ॥३॥

विद्या के सम्बन्ध में यह है—विद्या में प्रधान होने से गुरु पहिला कारण है, विद्यार्थी द्वितीय साधन है, विद्या में दोनों का सम्बन्ध होता है, पढ़ाना अथवा उपदेश दोनों के सम्बन्धी होने में साधन है, यह विद्या सम्बन्ध में कहा।

अब सन्तानोत्पत्ति विषय कहते हैं—माता प्रथम कारण है, पिता द्वितीय साधन है, पुत्र दोनों की सन्धि है, सन्तान का उत्पन्न होना माता पिता दोनों के मिलने में हेतु है।

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम् । इतीमा महासꣳहिताः । य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥४॥ (संधिराचार्यः पूर्वरूपमित्यधिप्रजं लोकेन)

अध्याय विषय इस प्रकार है—वर्णों के उच्चारण में नीचे का जवड़ा प्रथमरूप ऊपर का जवड़ा उत्तर रूप, उच्चारण में दोनों जवड़ों का मेल होता है, जीभ से दोनों मिलाए जाते हैं। यह शरीर सम्बन्धी विचार है।

ये ५ महा संहिता हैं—जो मनुष्य इन महा संहिताओं को यथार्थ जानता है। उसे पुत्र और पशु प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्मतेज अन्नादि भोग्य पदार्थ और स्वर्गलोक को प्राप्त होता है।

तृतीय अनुवाक समाप्तः।

चतुर्थ अनुवाक।

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देवधारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना ॥१॥

जो परमेश्वर वेदों में अति श्रेष्ठ और विश्वरूप वर्णन किया गया है, जो ऋग्वेदादि वेद और मोक्ष का भी अधिष्ठाता है,

—

वह भगवान् मुझे बुद्धि से प्रबल करे, मैं विद्वानों के समान वेदादिशास्त्र का धारण करने वाला होऊं, मेरा शरीर रोग रहित हो, मेरी वाणी मधुर भाषिणी हो, मैं कानों से शास्त्रों का श्रोता बनूं, हे भगवन् ! आप बुद्धि से अच्छादित ज्ञान के कोश हैं अतः मेरे पढ़े हुए ज्ञान की रक्षा करें?

कुर्वाणा चीरमात्मनः । वासांऽसि मम गावश्च । अन्न-पाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्म-चारिणः स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहाः । दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥२॥

हे प्रभो ! इसके अनन्तर मुझे वह लक्ष्मी प्रदान कीजिये जो सदैव मेरे लिये, अन्न, जल, वस्त्र, और गौओं को प्राप्त कराती हुई चिरकाल तक मुझे सम्पत्ति शाली करती रहे, रोम वाले भेड़ बकरी आदि मेरे पास हों, मेरे पास चारों तरफ़ से ब्रह्मचारी आवें, विशेषता के साथ ब्रह्मचारी मेरे समीप आवें, मुझे ब्रह्म-चारी भले प्रकार जानें, जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी मेरे पास रहें, शान्ति शीघ्र ब्रह्मचारी मेरे पास आवें।

हे भगवन ! आपकी कृपा से मैं मनुष्यों में यशस्वी बनूं, धनिकों में मैं श्रेष्ट बनूं, हे प्रभो ! उस ज्ञान स्वरूप तुझ में मैं प्रवेश करूं. तेरे आनन्द में मग्न हो जाऊं, हे भगवन् ! आप मुझमें प्रविष्ट होकर प्रकट हों, अनन्त सामर्थ्य वाले आप में प्रविष्ट होकर मैं शुद्ध होजाऊं।

यशोजनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे । निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा । यथापः प्रवता यन्ति । यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणः । धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्रमा पाहि प्रमा पद्यस्व ॥३॥ वितन्वाना शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । (धातरायन्तु सर्वतःस्वाहैके च)

जैसे जल सदा नीचे को ही जाते हैं, जैसे चैत्र आदि मास वर्ष में लय हो जाते हैं, इसी तरह हे जगत् के धारक परमेश्वर ! सब देशों से मेरे पास ब्रह्मचारी आवें हे ईश्वर ! आप आनन्द के स्थान हैं, मेरे हृदय में अपने स्वरूप का प्रकाश कीजिए, मुझे आप प्राप्त हों ।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्तः ॥

पञ्चम अनुवाक ।

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामुह स्मैतां चतुर्थीम् । माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म ॥ स आत्मा । अंगान्यन्या देवताः ॥१॥

भूः, भुवः, सुवः, ये ३ व्याहृतियां हैं, इनमें चौथी व्याहृति को माहा चमस ऋषि ने अच्छे प्रकार जाना है, वह व्याहृति यह है वह महः ब्रह्म है, क्यों वह आत्मा ईश्वर है, अन्य सारे देवता उसके अङ्ग हैं ।

भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः॥ आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते॥ २॥

आगे ऋषि इन महा व्याहृतियों के अर्थ को बताते हैं।

यह पृथ्वी लोक भूः है, अन्तरिक्ष भुव है, सुव द्युलोक है, सूर्य लोक महः है, क्योंकि सारे लोक सूर्य से ही महिमावान् होते हैं।

भूरिति वा अग्निः॥ भुव इति वायुः॥ सुवरित्यादित्यः मह इति चन्द्रमाः॥ चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते॥ ३॥

अग्नि भूः है, वायु भुवः है, सूर्य सुवः है, चन्द्रमा महः है, क्यों कि चन्द्रमा से ही सारे ग्रह नक्षत्र महिमा वाले होते हैं।

भूरिति वा ऋचः॥ भुव इति सामानि॥ सुवरिति यजूंषि॥ मह इति ब्रह्म॥ ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते॥ ४॥

अथवा भूः ऋचाएं, ऋग्वेद हैं। भुवः साम मन्त्र हैं, सुवः यजुर्वेद की श्रुतियां हैं. और महः ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म से ही सारे वेद महिमा को प्राप्त होते हैं।

भूरिति वै प्राणः॥ भुव इत्यपानः॥ सुवरिति व्यानः॥ मह इत्यन्नम्॥ अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते॥ ५॥

भूः प्राण है, भुवः अपान है, सुवः व्यान है, महः अन्न है क्योंकि अन्न से ही प्राण महिमा वाले होते हैं।

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा ॥ चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः ॥ ता यो वेद ॥ स वेद ब्रह्म ॥ सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥३॥ (असौ लोको यजूंष्यपि वेद द्वे च)

ये ४ व्याहृतियां ४ प्रकार से हैं चारों ४-४ व्याहृतियां हैं, चारों को जो जानता है, वह पुरुष ब्रह्म को जानता है, ऐसे ब्रह्म ज्ञानी को सारे देव बलि देते हैं, ऐसे भक्त पुरुष का सब विद्वान् पूजन करते हैं ।

पञ्चमऽनुवाकः समाप्त ॥

छठा अनुवाक

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः ॥ तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः ॥ अमृतो हिरण्मयः ॥ अन्तरेण तालुके ॥ य एष स्तन इवावलम्बते ॥ सेन्द्रयोनिः ॥ यत्रासौ केशान्तो विवर्तते ॥ व्यपोह्य शीर्षकपाले ॥ भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति ॥ भुव इति वायौ ॥ १ ॥ सुवरित्यादित्ये ॥ मह इति ब्रह्मणि ॥ आप्नोति स्वाराज्यम् ॥ आप्नोति मनसस्पतिम् ॥ वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः ॥ श्रोतपतिर्विज्ञानपतिः ॥ एतत्ततो भवति ॥ आकाशशरीरं ब्रह्म ॥ सत्यात्मप्राणारामं मन आनन्दम् ॥ शान्तिसमृद्धममृतम् ॥ इति प्राचीनयोग्योपास्स्व (वायामृतमेकं च) ॥ २ ॥

सो यह जो कमल के समान हृदय के अन्दर आकाश है उसी के अन्दर विज्ञान स्वरूप आत्मा निवास करता है, वह अमृत है, और प्रकाश स्वरूप है, मुख का यह भाग जिसे तालू

कहते हैं उसके बीच में जो स्तन के समान मांस लटकता है, और जहां यह केशों की जड़ है। और जहां कपाल के २ भाग होते हैं। (इन्हीं दोनों स्थानों में होकर सुषुम्ना नाड़ी हृदय से कपाल में जाती है) यहीं आत्मा का विशेष स्थान है। अर्थात् मोक्ष साधन सम्पन्न जीवन्मुक्त पुरुष का आत्मा मरने के समय सहस्र दल कमल को भेदन करके और सिरके इस भाग को भेदन करके निकल जाता है। उस दशा में जब जीव मुक्त होता है तब भूः नामक अग्नि में वह ठहरता है, भुव नामक वायु अथवा अन्तरिक्ष में ठहरता है, सुव नामक आदित्य में यथेष्ट विहार करता है, और मह नामक ब्रह्म को प्राप्त होकर स्वाराज्य अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त करता है, वह जीव तब मनका स्वामी, और वाणी आंख, कान, बुद्धि का भी स्वामी हो जाता है, इन इन्द्रियों की शक्तियां उसके वश में आ जाती हैं। इस लिये हे प्यारे शिष्य प्राचीन योग्य ! तू इस दशा की प्राप्ति के लिये आकाश के समान निराकार सत्य स्वरूप, प्राणों के दाता, मनको प्रसन्न करने वाले, शान्त अविनाशी, ब्रह्म की उपासना कर।

षष्ठोऽनुवाकः समाप्तः ।

सातवां अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः ॥ अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि ॥ आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा ॥ इत्यधिभूतम् ॥ अथाध्यात्मम् ॥ प्राणो

व्यानोऽपान उदानः समानः ॥ चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् ॥ चर्म माꣳसꣳ स्नावास्थिमज्जा ॥ एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् ॥ पांक्तं वा इदꣳसर्वम् ॥ पांक्तेनैव पांक्तꣳस्पृणोतीति ॥१॥ (सर्वमेकं च) ॥

पृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य लोक, दिशाएं तथा अवान्तर दिशाएं यह ५ लोकों का समूह है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र यह ज्योतिपञ्चक है । जल, ओषधियां, वनस्पतियां, आकाश, और आत्मा यह पञ्चभूतों का समूह है, ये ऊपर के ३ पांक्त समूह भूतों के सम्बन्ध में हैं। अब अध्यात्म वर्णन करते हैं।

प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान यह प्राण पञ्चक हैं। आंख, कान, मन, वाणी, तथा त्वचा यह इन्द्रिय पांक्त (पञ्चक) है चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी, मज्जा, यह धातु पञ्चक है। इस प्रकार ५-५ चीजों का समूह कह कर ऋषि कहने लगे कि यह जो कुछ चराचर जगत् है सब पांक्त है, पांच २ में विभक्त हैं, पांक्त से ही पांक्त की पुष्टि होती है, अर्थात् इन ५-५ पांक्तों को जानकर ही मनुष्य आत्म ज्ञानी होता है।

सप्तमोऽनुवाक समाप्त ।

आठवां अनुवाक

ओमिति ब्रह्म ॥ ओमितीदꣳसर्वम् ॥ ओमित्येतदनुकृतिहस्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति ॥ ओमिति सामानि

गायन्ति ॥ ओ३ंशोमिति शस्त्राणि शंसन्ति ॥ ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति ॥ ओमिति ब्रह्मा प्रसौति ॥ ओमित्यग्नि-होत्रमनुजानाति ॥ ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवा-नीति ॥ ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ १ ॥ (३दश)

ओम् ही ईश्वर है, (क्योंकि ओम् उसका मुख्य नाम है। यह सारा जगत् ओम् है, ओम् यह ब्रह्म का अनुकरण है, यदि किसी से कहा जावे कि आप ब्रह्म का उपदेश कीजिये तो वह ओम् ऐसा कह कर ही उपदेश आरम्भ करता है, ओम् बोलकर ही सामवेद के मन्त्र गाए जाते हैं। याज्ञिक लोग ओम्, शोम् ऐसा बोलकर यज्ञ साधनों की प्रशंसा करते हैं, ओम् ऐसा बोल-कर अध्वर्युः यजमान की बात का यज्ञ में उत्तर देता है, ओम् बोलकर ब्रह्मा ईश्वर की स्तुति करता है अथवा कर्म करने की आज्ञा देता है; ओम बोलकर ही अग्निहोत्र किया जाता है, जो ब्राह्मण ओम बोलकर ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा से कार्य आरम्भ करता है वह अवश्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, इस तरह इस अनु-वाक में १० ओङ्कार कहे हैं।

अष्टमोऽनुवाक समाप्तः।

नवां अनुवाक

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः ॥ तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः ॥ स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः ॥ तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥ (प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च षट् च) ॥

वेदानुकूल सत्य ज्ञान और वेदाध्ययनाध्यापन होना चाहिये सत्य वादिता और स्वाध्याय प्रवचन होना चाहिये। तप (द्वन्द्व सहन) और उसके साथ स्वाध्याय प्रवचन हो। दम (इन्द्रियों का वशीकरण) हो और स्वाध्याय शीलता हो। शम (मन को वश करने के साथ) स्वाध्याय करना चाहिये। आहवनीयादि अग्नियों के साथ स्वाध्याय प्रवचन करे। अग्निहोत्र करता हुआ स्वाध्याय करे।

अतिथि, विद्वान् पुरुषों का सत्कार करता हुआ स्वाध्याय करे। विवाहादि सम्बन्ध करता हुआ स्वाध्याय प्रवचन करे। सन्तान का पालन पोषण करता हुआ स्वाध्याय करे। ऋतु-कालाभिगामी होकर सन्तान उत्पन्न करता हुआ स्वाध्याय करे। जाति सेवा करता हुआ स्वाध्याय और प्रवचन करे।

सत्यवादी रथीतर ऋषि का पुत्र राथीतर कहता है कि सत्य ही धर्म है। तपोनिष्ठ पौरुशिष्टि ऋषि का मत है कि तप ही

श्रेष्ठ धर्म है। स्वाध्याय और प्रवचन करना ही मुख्य धर्म है ऐसा मुद्गल का पुत्र नाक ऋषि मानता है, सचमुच यही तप है यही तप है।

नवमोऽनुवाक समाप्तः ॥

दसवां अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा ॥ कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव ॥ ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीवस्वमृतमस्मि ॥ द्रविणꣳसवर्चसम् ॥ सुमेधा अमृतोऽक्षितः इति त्रिशंकोर्वेदानुवचनम् ॥ १ ॥ (अहꣳषट्) ॥

मैं इस पापयुक्त संसार रूपी वृक्ष का नाश करने वाला हूँ। मेरा यश पर्वत की पृष्ठ के समान अचल है, मैं सूर्य के समान ऊँचा, पवित्र और अमृत स्वरूप हूँ, मुझे प्रताप से युक्त धन प्राप्त हो, मुझे मेधा बुद्धि प्राप्त हो अमृत से युक्त होऊं। यह त्रिशंकु ऋषिका वेदोपदेश है, वेद का सार है। मनुष्य को सदा इसी प्रकार अपने अन्दर उच्चविचार रखने चाहिये।

दशमोऽनुवाक समाप्तः ॥

ग्यारहवां अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति ॥ सत्यं वद ॥ धर्मं चर ॥ स्वाध्यान्मा प्रमदः ॥ आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ॥ सत्यान्न प्रमदितव्यम् ॥ धर्मान्न प्रमदितव्यम् ॥ कुशलान्न प्रमदितव्यम् ॥ भूत्यै न प्रमदितव्यम् ॥ स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

आचार्य अपने शिष्य को वेद पढ़ाकर अन्त में उपदेश देता है कि हे प्रिय शिष्य! तू सदा सत्यबोल! धर्माचरण कर। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना। आचार्य के लिये प्रिय धन भेंट करके विनीत भाव से रहना, और सन्तान के तन्तु का कभी उच्छेद न करना। सत्य में प्रमाद न करना। धर्म में प्रमाद न करना। अग्निहोत्र सन्ध्या आदि कार्यों में कभी प्रमाद न करना सुखों के साधन धनादि की प्राप्ति में कभी प्रमाद न करना। स्वाध्याय और वेदोपदेश पठन पाठन में कभी प्रमाद न करना। वेदोपदेष्टा देव और ज्ञानी पितरों की सेवा में प्रमाद न करना।

मातृदेवो भव ॥ पितृदेवो भव ॥ आचार्यदेवो भव ॥ अतिथिदेवो भव ॥ यान्यनवद्यानि कर्माणि ॥ तानि सेवितव्यानि ॥ नो इतराणि ॥ यान्यस्माकꣳ सुचरितानि ॥ तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ २ ॥

माता को देवता वत् पूज्य समझो। पिता को देव समान समझना। आचार्य को पूज्य समझो। अतिथि को देव तुल्य समझना। जितने दोष रहित उत्तम कर्म हैं उन ही का तुमको सेवन करना चाहिये। पाप कर्म तुमको कभी न करने चाहिये। जितने हमारे शुभाचरण हैं वे ही तुमको धारण करने योग्य हैं। हमारे दोषों का अनुकरण कभी न करना चाहिये।

ये केचास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः ॥ तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् ॥ श्रद्धया देयम् ॥ अश्रद्धया देयम् ॥ श्रिया देयम् ॥ ह्रिया देयम् ॥ भिया देयम् ॥ संविदादेयम् ॥

हे प्यारे पुत्र ! वा शिष्य ! इनमें जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हों उनको आसन, वस्त्र, और अन्य सत्कार से सदा प्रसन्न करना चाहिये। तुम श्रद्धा पूर्वक दान दो। अश्रद्धा से भी दान दो। शोभा से दान दो। लोक लज्जा से दान दो। कोई कृपण न कहे, और परलोक में उत्तम जन्म हो इस डरसे भी दान दो। दान से लोक का उपकार होता है इस ज्ञान से भी दान दो।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ताः॥ अलूक्षा धर्मकामाः स्युः॥ यथा ते तत्र वर्तेरन्॥ तथा तत्र वर्तेथाः॥

हे शिष्य ! यदि तुम्हें कभी नित्य नैमित्तक अग्नि होत्रादि में अथवा दया दान आदि व्यावहारिक कार्यों में सन्देह उत्पन्न हो जावे तो उस समय वहां जो विचारशील, कर्म काण्ड में लगे हुए विशेष आचार से युक्त, निर्दयता रहित, धार्मिक, ब्राह्मण हो वे जैसे वर्त्तें वैसे ही तुम भी वर्त्तना अर्थात् अपने संशयों को सदा विद्वानों से निवारण करते रहना।

अथाभ्याख्यातेषु॥ ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः॥ युक्ता आयुक्ताः॥ अलूक्षा धर्मकामाः स्युः॥ यथा ते तेषु वर्तेरन्॥ तथा तेषु वर्तेथाः॥

इसी प्रकार यदि तुमको दूषित, पापी, जनों के विषय में सन्देह होगया हो कि इनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये तो उस समय भी पूर्वोक्त प्रकार के ब्राह्मण जैसा उनके साथ बर्त्ताव

करें वैसा ही तू भी करना इसमें हठ, दुराग्रह न करना, क्योंकि श्रेष्ठ आर्यजनों का अनुकरण ही सबसे उत्तम व्यवहार है ।

एष आदेशः ॥ एष उपदेशः एषा वेदोपनिषत् ॥ एतदनुशासनम् ॥ एवमुपासितव्यम् ॥ एवमुचैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥ (स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं तानि त्वयोपास्यानि स्यात्तेषु वर्तेरन् सप्त च) ॥

बस यही हमारी आज्ञा है, यही उपदेश है, यही वेद का सार है, यही वेद का अनुशासन है, इसी पर तुमको चलना चाहिये, इस उपदेश को अपने आचरण के साथ मिलाना चाहिये ।

एकादशोऽनुवाकः समाप्तः ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् ॥ सत्यमवादिषम् ॥ तन्मामावीत् ॥ तद्वक्तारमावीत् ॥ अवीन्माम् ॥ आवीद्वक्तारम् ॥ १ ॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ [सत्यमवादिषं पञ्च च] ॥

द्वादशोऽनुवाक समाप्तः ॥

अथ ब्रह्मानन्द वल्ली (प्रथम अनुवाक)

ॐ सह नाववतु ॥ सह नौ भुनक्तु ॥ सह वीर्यं करवावहै ॥ तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

परमेश्वर हम दोनों गुरु शिष्यों की रक्षा करे, हम दोनों का पालन करे। हम दोनों मिलकर शक्ति को बढ़ावें। हम दोनों का पढ़ा पढ़ाया आत्मतेज युक्त हो, हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम् ॥ तदेषाऽभ्युक्ता ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ॥ सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ॥ ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥

ब्रह्म ज्ञानी मनुष्य परम कल्याण को प्राप्त होता है; इसी अर्थ को यह आगे की ऋचा कहती है, जो ब्रह्मज्ञ पुरुष ब्रह्मको सत्य स्वरूप ज्ञान स्वरूप, और अनन्त जानता है और अपने हृदय की गुफा के परम सूक्ष्म आकाश देश में छिपा हुआ जानता है वह विद्वान ज्ञान मय ब्रह्म के साथ सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है, सब इष्ट फलों को प्राप्त कर लेना है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः ॥ अग्नेरापः ॥ अद्भ्यः पृथिवी ॥ पृथिव्या ओषधयः ॥ ओषधीभ्योऽन्नम् ॥ अन्नात्पुरुषः ॥ स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

उस सत्यस्वरूप परमात्मा से सबसे प्रथम आकाश की अभिव्यक्ति हुई, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल,

जल से पृथवी, पृथवी से ओषधियां, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, और वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है। सो यह मनुष्य का शरीर अन्नरस मय है।

तस्येदमेव शिरः॥ अयं दक्षिणः पक्षः॥ अयमुत्तरः पक्षः॥ अयमात्मा॥ इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ॥ तदप्येषः श्लोको भवति ॥१॥

शरीर का मुख्य अङ्ग सिर है, शरीर का दहना भाग दक्षिण पक्ष है, बायां भाग उत्तर पक्ष है, यह जो धड़ है सो शरीर का प्रधान भाग है। और नाभि से नीचे का भाग इस शरीर का पूंछ का स्थान है, यह भाग इस शरीर का आश्रय है। इसी विषय को दूसरे अनुवाक का श्लोक प्रकट करेगा—

प्रथमऽनुवाक समाप्तः॥

दूसरा अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते॥ याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः॥ अथो अन्नेनैव जीवन्ति॥ अथैनदपि यन्त्यन्ततः॥ अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्॥ तस्मात्सर्वौषधमुच्यते॥ सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति॥ येऽन्नं ब्रह्मोपासते॥

पृथ्वी पर रहने वाले समस्त प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। और अन्न से ही सब जीते हैं, और अन्त में मरते समय सब लोग इसी पृथ्वीरूप अन्न में लीन हो जाते हैं, सब

पदार्थों में अन्न ही सब से बड़ा है, और यही सबकी औषध कहा गया है, जो मनुष्य अन्न को सब से बड़ा उपकारक समझ कर उसका सेवन करते हैं वे अवश्य बहुत अन्न पाते हैं उनको समस्त भोग्य पदार्थ मिल जाते हैं। ब्रह्म प्राप्ति में अन्न ही सबसे बड़ा साधन है इस लिये उसे ब्रह्म कहा गया।

अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम् ॥ तस्मात्सर्वौषधमुच्यते ॥ अन्नाद्भूतानि जायन्ते ॥ जातान्यन्नेन वर्धन्ते ॥ अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति ॥

निश्चय अन्न ही जीवों में सबसे बड़ा है, वही जीवन का आधार है, इस कारण उसको सबकी औषध कहा गया है, अन्न से जीव उत्पन्न होते हैं, पैदा होकर अन्न से ही बढ़ते हैं, इसको जीव खाते हैं और यह जीवों को खाता है। इस कारण इसे अन्न कहा गया है।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् ॥ अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः ॥ तेनैष पूर्णः ॥ स वा एष पुरुषविध एव ॥ तस्य पुरुषविधताम् ॥ अन्वयं पुरुषविधिः ॥

उस इस अन्न और रस से बने स्थूल शरीर से प्राण मय भीतर एक आत्मा भिन्न है, जिससे यह शरीर व्याप्त है सो यह प्राणमय आत्मा स्थूल शरीराकार ही है, उस स्थूल शरीर की आकृति के अनुसार ही यह प्राणमय आत्मा है। (यहां प्राण मय से कोई २ सूक्ष्म शरीर का ग्रहण करते हैं।)

तस्य प्राण एव शिरः ॥ व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान

उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा ॥ पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा ॥ तदप्येषः श्लोको भवति ॥

उस प्राणमय शरीर का मुखद्वार से निकलने वाला प्राण ही शिर है, कान उसका दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, समान वायु उसका आत्मा है, पृथिवी उदान उसका पुच्छ स्थानीय है। प्राणमय शरीर इनही वायुओं के साथ शरीर में रहता है और मरण समय में इनके साथ ही निकल जाता है, आगे का श्लोक इसका वर्णन करता है।

द्वितीयऽनुवाक समाप्तः ॥

तीसरा अनुवाक ।

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति ॥ मनुष्याः पशवश्च ये ॥ प्राणो हि भूतानामायुः ॥ तस्मात्सर्वायुपमुच्यते ॥ सर्वमेव त आयुर्यन्ति ॥ ये प्राणं ब्रह्मोपासते ॥ प्राणो हि भूतानामायुः॥ तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति ॥ तस्यैष एव शारीर आत्मा ॥ यः पूर्वस्य ॥

आँख, कान आदि इन्द्रियाँ (देव) प्राण के ही सहारे रहती हैं और मनुष्य तथा पशु आदि भी प्राण के सहारे से ही सांस लेते हैं, वास्तव में सांस ही प्राणियों की आयु है, इसीलिये सांस को सब की आयु कहा जाता है, जो लोग सब प्रकार से प्राणों की रक्षा करते हैं, वेही पूरो आयु भोगते हैं क्योंकि प्राण ही प्राणियों की आयु है, इसीलिये प्राण को ही सब की आयु कहा जाता है, उस प्राणमय का यही शरीर में रहने वाला जीव आत्मा है उस जीव के आश्रित ही प्राणमय कोश है।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् ॥ अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः ॥ तेनैष पूर्णः ॥ स वा एष पुरुषविध एव ॥ तस्य पुरुषविधताम् ॥ अन्वयं पुरुषविधः ॥ तस्य यजुरेव शिरः ॥ ऋग् दक्षिणः पक्षः ॥ सामोत्तरः पक्षः ॥ आदेश आत्मा ॥ अथर्वांगिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा ॥ तदप्येष श्लोको भवति ॥२॥

उस इस प्राणमय से भिन्न भीतर एक आत्मा और है जो मनोमय है उससे यह सूक्ष्म शरीर परिपूर्ण है, सो यह मनोमय आत्मा भी शरीर के तुल्य अवयव वाला है, उस प्राणरूप आत्मा की आकृति के अनुकूल यह मनोमय अन्तःकरण पुरुषाकार है, उसका यजुर्वेद शिर है, ऋग्वेद दक्षिण पक्ष है, साम उत्तर पक्ष है, आदेश-आज्ञा-आत्मा है। अथर्वांगिरस उसकी स्थिति का हेतु पुच्छ है, इसी बात को आगे का श्लोक वर्णन करता है। इसका यह आशय है कि जैसे शरीर में प्राणमय कोश है वैसे ही प्राणरूप में मनोमय कोश है, इसकी श्रद्धारूप वृत्ति यजुर्वेद, स्तुतिरूप वृत्ति ऋक्, शान्तिरूप वृत्ति साम, उपदेशरूप वृत्ति इसका मध्य, और दयारूप वृत्ति अथर्वाङ्गिरस कही जाती है। ये सारी मनोवृत्तियों के नाम हैं इसी के अन्दर स्मृति-मेधा सब रहते हैं।

तृतीयऽनुवाक समाप्तः ॥

चौथा अनुवाक।

यतो वाचो निवर्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥ आनन्दं

ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति ॥ तस्यैष एव शारीर आत्मा ॥ यः पूर्वस्य ॥४॥

जिस परमात्मा के पास न पहुंच कर वाणियाँ पीछे को लौट आती हैं उस ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ विद्वान मरणादि के दुःख से कभी नहीं डरता, उस मनोमय कोश का यह ही शरीर में रहने वाला जीव आत्मा है और यही स्थूलादि शरीर का आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात् ॥ अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः ॥ तेनैष पूर्णः ॥ स वा एष पुरुषविधताम् ॥ अन्वयं पुरुषविधः ॥ तस्य श्रद्धैव शिरः ॥ ऋतं दक्षिणः पक्षः ॥ सत्यमुत्तरः पक्षः ॥ योग आत्मा ॥ महः पुच्छं प्रतिष्ठा ॥ तदप्येष श्लोको भवति ॥५॥

उस मनोमय से विज्ञानमय आत्मा भिन्न है, उससे भी यह मनोमय परिपूर्ण है, सो यह विज्ञानमय आत्मा पुरुषाकार ही है उस मनोमय की पुरुषाकारता के सदृश ही यह विज्ञानमय आत्मा है उस आत्मा का श्रद्धा, आस्तिक भाव ही सिर है, शास्त्रानुकूल आचरण दहिना भाग, सत्य उसका बाँया अङ्ग है, वृत्ति का निरोध उसका आत्मा है, तेज, प्रकाश, स्फुरण उसका सहारा है। इसी को यह आगे का श्लोक वर्णन करता है।

चतुर्थोऽनुवाक समाप्तः ॥

पांचवां अनुवाक।

विज्ञानं यज्ञं तनुते ॥ कर्माणि तनुतेऽपि च ॥ विज्ञानं देवाः सर्वे ॥ ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ॥ विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद ॥ तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति ॥ शरीरे पाप्मनो हित्वा ॥ सर्वान्कामान्समश्नुत इति ॥ तस्यैष एव शारीर आत्मा॥ यः पूर्वस्य ॥६॥

निश्चयात्मक विचार ही यज्ञ का विस्तार करता है, विचार से ही कर्म किये जाते हैं, समस्त विद्वान् और इन्द्रियाँ विज्ञान (बुद्धि) को ही बड़ा मानती हैं, यदि कोई मनुष्य विज्ञान को ब्रह्माराधन का सब से बड़ा साधन समझता है और उससे कभी प्रमाद नहीं करता तो वह इसी मनुष्य शरीर में पाप रहित होकर सब अभीष्ट फलों को प्राप्त करता है, उस विज्ञानमय कोश का भी यह शरीर में रहने वाला जीव ही आत्मा है, जो पूर्व कहे मनोमय का है।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् ॥ अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः ॥ तेनैष पूर्णः ॥ स वा एष पुरुषविधि एव ॥ तस्य पुरुषविधताम् ॥ अन्वयं पुरुषविधः ॥ तस्य प्रियमेव शिरः ॥ मोदो दक्षिणः पक्षः ॥ प्रमोद उत्तरः पक्षः ॥ आनन्द आत्मा ॥ ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ॥ तदप्येष श्लोको भवति ॥७॥

उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न आनन्दमय आत्मा और है जिससे यह विज्ञानमय परिपूर्ण है, सो यह आनन्दमय शरीर में पुरुषाकार ही है, उस विज्ञानमय की पुरुषाकारता के समान

यह आनन्दमय भी पुरुषविध है, उसका प्रिय मित्रादि दर्शन से उत्पन्न होने वाला प्रेम ही सिर है, हर्ष उसका दायां अङ्ग है, अतिहर्ष उसका बायाँ अङ्ग है, आनन्द उसका मध्य है और आनन्द का अन्तिमपुच्छ के समान स्थान ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्मानन्द सब से ऊपर है। उसके लिये यह अगला श्लोक कहा है। समाधि में मनुष्य आनन्द स्वरूप में स्थित होता है इसलिये जीव की यह दशा सब से सूक्ष्म है, इसका अनुभव भी समाधि में ही होता है।

पञ्चमोनुवाक समाप्तः ॥

छठा अनुवाक ।

असन्नेव स भवति ॥ असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ॥ अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद ॥ सन्तमेनं ततो विदुरिति ॥ तस्यैष एव शारीर आत्मा ॥ यः पूर्वस्य ॥ अथातोऽनुप्रश्नाः ॥ उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य । कश्चन गच्छती ३ ॥ आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य । कश्चित्समश्नुता ३ उ ॥८॥

यदि कोई मनुष्य ब्रह्म नहीं है ऐसा जानता है वह मनुष्य नास्तिकता के कारण नष्ट ही हो जाता है और यदि मनुष्य ब्रह्म को "ब्रह्म है" ऐसा ही जानता है तो ब्रह्मज्ञ लोग उसे "सन्त" इस शब्द से पुकारते हैं। उस आनन्द मय का यही शरीर में रहने वाला जीव आत्मा है और वही पूर्व का भी आत्मा है।

अब इससे आगे प्रश्न हैं—जो मनुष्य ईश्वर को नहीं जानता क्या वह मर कर ब्रह्म में नहीं जाता ? और क्या ब्रह्म को जानने वाला मनुष्य मर कर ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है अर्थात नास्तिक कभी परमात्मपद को नहीं पहुंचता, और आस्तिक ब्रह्मानन्द को भोगता है—यही इनका उत्तर है ।

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इद७ँ सर्वमसृजत । यदिदं किंच । तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् ।

सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने यह इच्छा की कि मैं बहुत होजाऊँ अर्थात् मैं अपनी शक्ति को अनेक रूपों में प्रकट करूँ— तब उसने तप तपा अर्थात् सब पदार्थों को यथावत् बनाने का सङ्कल्प किया, और तब उसने इस सब को बनाया, यह जो कुछ है, और इसको रचकर वह इसी में प्रविष्ट हुआ अर्थात् इस रचना के अन्दर ही वह व्यापक है ।

तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च । सत्यमभवत् । यदिदं किंच । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवंति ॥६॥

उसमें प्रविष्ट होकर वह भगवान् व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में हो गया अर्थात उसकी रचना तो प्रकट हो गई, परन्तु उसका स्वरूप अप्रकट ही रहा, तदन्तर वर्णनीय और अवर्णनीय

आधारभूत और आधाररहित, विज्ञानरूप चेतन और अविज्ञानरूप जड़, सत्यरूप नित्य और अनृतरूप अनित्य इस प्रकार से जगत् दो भागों में विभक्त हो गया और जिसमें दोनों प्रकार का यह जगत् स्थित हुआ वह परमात्म सत्ता सत्यरूप से प्रकट हुई, इसीलिये ईश्वर को सत्य कहते हैं क्योंकि उसकी सत्ता ध्रुव है उस में भेद नहीं है और जगत् का वह आधार है अतः जगत् भी सत्य है, इसी को आगे का श्लोक वर्णन करता है।

षष्ठोऽनुवाक समाप्तः ॥

सातवां अनुवाक ।

असद्वा इदमग्र आसीत् ॥ ततो वै सदजायत । तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ॥१०॥

सृष्टि से पूर्व यह दृश्यमान जगत् अव्यक्त होने से असत् था, जब यह स्थूल रूप में आया तब सत् हुआ, उस भगवान् ने अपने आपको संसार को रचकर स्वयं प्रकट किया, इसीलिये उसको सुकृत (पुण्यरूप) कहा जाता है।

यद्वैतत्सुकृतम् । रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति ॥११॥

यह पुण्यरूप भगवान् ही रस कहा जाता है, क्योंकि यह आनन्द प्रद है, यह जीवात्मा इसी रस को पाकर आनन्दयुक्त होता है, यदि यह आनन्दस्वरूप प्रकाशमान निराकार परमात्मा

न हो तो कौन प्राणी जी सके और कौन प्राण ले सके, ईश्वर की सत्ता के बिना न कोई जी सकता है, न प्राण धारण कर सकता है, यही भगवान् जीव को आनन्द देता है—जब यह जीवात्मा उस अदृश्य, निर्विकार, शरीर रहित, अनिर्वचनीय, निराश्रय, सर्वाधार ब्रह्म में निर्भय होकर मिलता है तभी अभय अर्थात मुक्त होता है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ॥१२॥

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति ॥१३॥

और जब यह मनुष्य ब्रह्म के स्वरूप ज्ञान में जरासा भी अन्तर या व्यवधान करता है तभी इसको भय रूप जन्म मरण प्राप्त होता है। ब्रह्म-ज्ञान से रहित मनुष्य विद्वान् भी हो तब भी ब्रह्म-ज्ञान होना ही उसके लिये भय है इसी को आगे का श्लोक वर्णन करता है।

सप्तमोऽनुवाकः समाप्तः ॥

आठवां अनुवाक ।

भीषाऽस्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति ॥१४॥

भगवान् के ही भय से अर्थात् कठोर नियम से वायु चलती है और सूर्य उदय होता है, इसी के भय से अग्नि और मेघ अपना कार्य करते हैं और परमात्मा जिसकी मृत्यु नहीं चाहता उससे मौत भी अलग भागती है।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमाᳫंसा भवति । युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः ॥१५॥

सो यह जगत् और ब्रह्म के आनन्द की मीमांसा आगे की गई है मनुष्य वेदादि शास्त्र का ज्ञाता हो, श्रेष्ठ युवा हो, शासन करने वाला, सुदृढ़ और अतिबलवान हो इतने पर भी उसको धन-धान्य से पूर्ण यह सारी पृथ्वी मिल जावे तो इसको लोक में एक मनुष्य सम्बन्धी सुख कहा है।

ते ये शतं मानुषा आनन्दः ॥ स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥१६॥

ऐसे १०० मानुष्य आनन्द इकट्ठे किये जावें तो वह एक गान विद्या प्रवीण मनुष्य गन्धर्वों का आनन्द होता है, परन्तु वह मनुष्य वेदों का विद्वान् और कामाशक्ति से रहित होना चाहिये—आशय यह है कि जो मनुष्य कामी न हो और वेदों का परम विद्वान् हो और साथ ही गान विद्या में परम प्रवीण हो उस को मानुष आनन्द से १०० गुणा आनन्द होता है।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥१७॥

ऐसे जो सौ मनुष्य गन्धर्वों के आनन्द हैं उनके बराबर देव गन्धर्वों का एक आनन्द होता है (देवताओं के समान उत्तम कोटि के गायनाचार्य देवगन्धर्व होते हैं), परन्तु वह मनुष्य भी वेद का विद्वान् और कामना रहित हो।

ते ये शतं देवगंन्धर्वाणामानन्दाः । ए एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥१८॥

सो ये जो सौ देवगन्धर्वों के आनन्द हैं उनके बराबर समाधि मेंरहने वाले पितर संज्ञक विद्वानों को एक आनन्द है यदि वे पितर वेद के ज्ञाता और कामना रहित हों (समाधि में रहने वाले विद्वानों को चिर लोक कहते हैं)।

ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः । स एक आजानजानां देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥१९॥

सो ये जो सौ पितरों के आनन्द हैं, उनके बराबर आजानज वेदज्ञाता अकामी देवताओं का एक आनन्द होता है (आजानज देव वे कहाते हैं जो पूर्व जन्मकृत ज्ञान की विशेषता से संसार में विशेष ख्याति प्राप्त करते हैं)।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥२०॥

वे जो आजानज देवों के सौ आनन्द हैं उनके बराबर एक कर्म देवों का आनन्द होता है । कर्मदेव वे हैं जो छोटे वंश में

उत्पन्न होकर भी अपने उग्र कर्मों के प्रभाव से देव पदवी प्राप्त करते हैं ।

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥२१॥

सो वे जो कर्म देवों के १०० आनन्द हैं उनके बराबर ज्ञानी और कामना रहित देवों का एक आनन्द है ।

ते ये शतं देवानामानन्दः ॥ स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥२२॥

सो वे जो १०० देवों आनन्द हैं उनके बराबर एक आनन्द इन्द्र को होता है परन्तु वह वेदज्ञ और अकामी हो (परम विद्वान् राजर्षि को इन्द्र कहते हैं) ।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥२३॥

सो वे जो १०० इन्द्र के आनन्द हैं उनके बराबर वह एक उपर्युक्त प्रकार के बृहस्पति का आनन्द कहा है (इन्द्र के गुरु को बृहस्पति कहते हैं) ।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः ॥ स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥२४॥

सो वे जो १००बृहस्पति के आनन्द कहे हैं उनके बराबर एक प्रजापति का आनन्द कहा है ।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण-आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥२५॥

सो वे जो १०० प्रजापति के आनन्द हैं उनके बराबर एक ब्रह्म का आनन्द है वह भी वेदज्ञ और अकामो हो (ब्रह्म से यहाँ चारों वेदों के वक्ता ब्रह्मज्ञ का ग्रहण करना चाहिये और ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मलीन मनुष्य सब से उच्च कोटि में गिना जाता है उस से आगे और कोई आनन्द की गणना नहीं हो सकती)।

स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः ।

ब्रह्म समाधिगत पुरुष का यह वही आनन्द है जो आनन्द प्रकाशरूप चराचर व्याप्त ब्रह्म में है अर्थात ब्रह्म-लीन पुरुष ब्रह्म के पूर्ण आनन्द का अनुभव करता है।

स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतमानन्द मयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको भवति।२६॥

सो जो पूर्ण योगी परमात्मा के महत्व को इस प्रकार जान लेता है वह इस लोक से मुक्त होकर इस अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय आत्मा का साक्षात् अनुभव कर लेता है इस ही पर आगे का श्लोक कहा है।

अष्टमोऽनुवाक समाप्तः ॥

नवा अनुवाक।

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चनेति एत ँ ह वाव न

तपति किमहꣳ साधु न करवम् । किमहं पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते य एवं वेद इत्युपनिषद् ॥ २७ ॥

जिस ब्रह्म के पास न पहुँच कर मन के सहित वाणियाँ वापिस लौट आती हैं उस ब्रह्म के आनन्द को पाकर विद्वान् फिर किसी से नहीं डरता, वह संसार के समस्त पदार्थों से निर्भय हो जाता है क्योंकि इस जीवन्मुक्त पुरुष को विषय विकार बिलकुल नहीं सता सकते, वह सदैव यह विचार करता है कि मैंने कौनसा साधु कर्म नहीं किया है और मैंने क्या पाप कर्म किया है, अर्थात् कोई भी नहीं और जब मैंने कोई भी पाप कर्म नहीं किया तब मेरे आनन्द में कौन विघ्न डाल सकता है सो वह दोनों ऊपर के विचारों से योगी अपनी आत्मा को प्रसन्न रखता है और यह जान लेता है कि पाप पुण्य दोनों ही को पूर्ण विचार कर मैंने किया है ऐसा मान कर परमात्मा ही का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है तब वह मुक्त हो जाता है यही उपनिषद् का रहस्य है ।

नवमोऽनुवाकः समाप्तः ॥

❀ ब्रह्मानन्द वल्ली समाप्त ❀

अथ भृगुवल्ली (पहला अनुवाक) ।

भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति ॥

पुराकाल में वरुण ऋषि का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया । और विनयपूर्वक बोला—भगवन् ! मुझे ब्रह्म बताइये । गुरु ने उस से यह कहा—अन्न, प्राण, आंख, कान, मन, और वाणी ये सब ब्रह्म प्राप्ति के साधन हैं । और ब्रह्म ज्ञान के द्वार हैं ।

तꣳहोवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥१॥

साधन बताकर, भृगु को वरुण ने कहा—जिस आत्मसत्ता की प्रेरणा से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए जीव जीते हैं, पालन पाते हैं; मरणकाल में, जिससे जन्मान्तर में जाते हैं, तथा जिसमें प्रवेश करते हैं, उसके जानने की जिज्ञासा कर । वह ब्रह्म है । उसने तप किया ।

प्रथमोऽनुवाक समाप्तः ॥

दूसरा अनुवाक ।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तꣳहोवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥२॥

उस भृगु ने तप करके अन्न को ब्रह्म जाना। वह समझा कि निश्चय पूर्वक अन्न से ही ये प्राणि उत्पन्न होते हैं, अन्न से उत्पन्न हुए प्राणि जीते हैं और अन्न को ही जाते हैं तथा अन्न में ही प्रवेश करते हैं। जो खाया जाय वह अन्न है। ऐसा अन्न ही प्राणियों की उत्पत्ति, पालन तथा मरण का कारण है। यह जान कर संशयशीलता से प्रेरित भृगु फिर वरुण पिता के पास गया और नम्रता से बोला— हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म बताइए। उसको वरुण ने कहा—तपसे, साधन करके ब्रह्म जानने की इच्छा कर। तप ब्रह्म है। ऐसा आदेश पाकर भृगु ने तप किया।

द्वितीयोऽनुवाक समाप्तः ॥

तीसरा अनुवाक ।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥३॥

भृगु ने तप करके प्राण को,जगत् के जीवनको ब्रह्म जाना। वह यह समझा कि प्राण से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, प्राण द्वारा ही उत्पन्न हुए जीते हैं और अन्त में प्राणमें जाते तथा प्रवेश करते हैं। यह जानकर वह शंका वश फिर वरुण पिता के पास गया। उसे बोला—भगवन् ! मुझे ब्रह्म बताइये। उसको वरुण ने

कहा—तप से, साधनों से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। तप ब्रह्म है; तप से ही ब्रह्म जाना जाता है। यह आदेश पाकर उसने तप किया।

तृतीयोऽनुवाक समाप्तः ॥

चौथा अनुवाक।

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविश-न्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥४॥

भृगु ने तप-साधन-करके मन को ब्रह्म जाना। उसने समझा कि निश्चय मन से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं; मन से उत्पन्न हुए जीते हैं, अन्त में मर कर मन को जाते हैं तथा मन में प्रवेश करते हैं। मन को उत्पत्ति, वृद्धि तथा लय का कारण जान कर वह संशयवश फिर वरुण पिता के पास गया। उसे विनय से बोला भगवन्! मुझे ब्रह्म बताइये। उसको वरुण ने कहा—साधन से ब्रह्म जानने की इच्छा कर। साधन--तप--ब्रह्म है। ऐसा आदेश पाकर उसने तप किया।

चतुर्थोऽनुवाक समाप्तः ॥

पांचवां अनुवाक ।

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तꣳहोवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा ॥५॥

भृगु ने तप करके विज्ञान को ब्रह्म जाना । वह यह समझा कि निश्चय विज्ञान से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं ; विज्ञान से उत्पन्न हुए जीते हैं, मर कर विज्ञान को जाते तथा विज्ञान में प्रवेश करते हैं । ऐसा जान कर वह संशयवश फिर वरुण पिता के पास गया और विनय से बोला—भगवन् ! मुझे ब्रह्म बताइए । उसको वरुण ने कहा—तप से ब्रह्म जानने की इच्छा कर । तप ब्रह्म है । ऐसा आदेश पाकर उसने तप किया ।

पञ्चमोऽनुवाक समाप्तः ॥

छठा अनुवाक ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या । परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥६॥

भृगु ने पिता के आदेशानुसार तप करके अन्त में, आनन्द को ब्रह्म जाना। वह समझ गया कि निश्चय आनन्द से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं आनन्द से उत्पन्न हुए जीते हैं। अन्त में मर कर आनन्द के नियम से जन्मान्तर को जाते हैं और मुक्त आत्मा आनन्द में प्रवेश करते हैं। वह यह ईश्वर की निष्ठा भृगु और वरुण की विद्या है। भृगु ने समझी और वरुण ने वर्णन की। यह ब्रह्मविद्या परम आकाश में, परम परमेश्वर में प्रतिष्ठित है। अन्नादि में ब्रह्मभाव नहीं है। ब्रह्म भावना तो केवल परमानन्दमय परमेश्वर में ही प्रतिष्ठित है। जो जिज्ञासु इस प्रकार परमेश्वर को उत्पत्ति, पालना और प्रलय का कारण जानता है और परमेश्वर को कर्त्ता, हर्त्ता और भर्त्ता समझता है वह आत्मा में स्थिर होजाता है। वह अन्नवान्, भोज्य पदार्थवान् तथा भोज्य-पदार्थों का भोक्ता होजाता है। वह प्रजा से पशुओं से और ब्रह्म तेजसे महान हो जाता है और वह कीर्त्तिसे भी महान् होजाता है।

षष्ठोऽनुवाक समाप्तः॥

सातवां अनुवाक।

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतं। प्राणो वा अन्नम्। शरीर-मन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रति-तिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभि-र्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥१॥

परमेश्वर की धारणा तथा विद्या वर्णन करके ऋषि खाद्य पदार्थ का उपदेश देता है। भोक्ता और भोग का वर्णन करता है। विवेकी मनुष्य अन्न को, खाद्यवस्तु को कभी भी निन्दा नकरे यह व्रत जाने। इसको भंग न करे। केवल अप्राण को ही न अन्न माने क्योंकि प्राण—जीवन—भी अन्न है। सप्राण वस्तु भी खाद्य है। शरीर अन्न को खाने वाला है। प्राण में शरीर ठहरा हुआ है। सप्राण देह खाद्य के आश्रित है। शरीर में प्राण ठहरा हुआ है। प्राण का भोक्ता शरीर है और शरीर का भोक्ता प्राण है। ये दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं। सो यह अन्न अन्न में ठहरा हुआ है। खाद्य खाद्य में रहता है। प्राण भी खाद्य है और शरीर भी। भोक्ता भोग सापेक्षिक हैं। जो अन्न अन्न में आश्रित जानता है वो स्थिर हो जाता है। उसका निश्चय नहीं डोलता। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होजाता है। वह सन्तति से, पशुओं से और उपासना के तेज से महान् होजाता है। और वह कीर्त्ति से भी महान् होजाता है।

सप्तमोऽनुवाक समाप्तः ॥

आठवां अनुवाक।

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥१॥

अन्न को न छोड़े न त्यागे। यह व्रत-नियम-जाने। अन्न को फेंकना, उच्छिष्ट छोड़ना अथवा अन्न का निरादर करना अच्छा न समझे। जल भी अन्न है। ज्योति-अग्नि अन्न को खाने वाली है। अग्नि जल को खा जाती है। जलों में ज्योति ठहरी हुई है और ज्योति में जल ठहरे हुए हैं। सो यह अन्न अन्न में ठहरा हुआ है वह जो यह अन्न अन्न में आश्रित जानता है वह स्थिर होजाता है; खाद्यवस्तु में उसे भ्रम नहीं रहता। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होजाता है। प्रजा से पशुओं से और ब्रह्म तेज से वह महान् होजाता है। वह कीर्त्ति से भी महान् होजाता है।

अष्टमऽनुवाक समाप्तः ॥

नवां अनुवाक।

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् । पृथिवी वा अन्नं। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्न-मन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महा-न्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥१॥

मनुष्य को चाहिए कि अन्न को बहुत बढ़ावे। खाद्य वस्तुओं की वृद्धि करे। यह व्रत है। खाद्य वस्तुएं अधिक उत्पन्न करना धर्म है। पृथिवी भी अन्न है। आकाश अन्न को खाने

वाला है। आकाश में पृथिवी लय होजाती है। पृथिवी में आकाश विद्यमान है और आकाश में पृथिवी ठहरी हुई है। दोनों एक दूसरे के सहारे पर हैं। सो यह अन्न अन्न में ठहरा हुआ है। जो यह अन्न अन्न में ठहरा हुआ जानता है वो स्थिर होजाता है। जो सब वस्तुओं में भोक्ता भोग्य भाव धारकर भोजन के भेद में नहीं फंसता। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होजाता है। वह प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मतेज से महान् होजाता है। और कीर्त्ति से भी महान् होजाता है।

नवमोऽनुवाक समाप्तः ॥

दसवां अनुवाक।

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳ राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳ राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते ॥१॥

गृहस्थी को चाहिए किसी अतिथि को भी घर से न हटाये भोजन के समय पर आए अतिथि का आदर सम्मान करे। यह व्रत है; अतिथि सेवा धर्म है। इस कारण जिस किसी भी विधी से बन सके, गृहस्थी बहुत अन्न प्राप्त करे, जिससे उसके घर में अतिथि [illegible] आदर सत्कार पाते रहें। [illegible] अतिथि महाभाग के लिए

अन्न पकाया है यह ज्ञानी जन कहा करते हैं। यह जो मुख्य अतिथि भाग को मान कर अन्न पकाया गया है उसका फल यह है कि इस दाता के लिए मुख्यता से फलरूप अन्न पकाया जाता है। ऐसे दाता को उत्तम तथा प्रधान भोग प्राप्त होता है। जो यह अतिथि को गौण मान कर अन्न पकाया गया है, उसका फल यह है कि इस दाता के लिए मध्यता से, गौणता से अन्न पकाया जाता है। ऐसे दाता को उस दानका गौणफल मिलता है। यह जो अतिथि को न गिनकर, कुछ न समझ कर अन्न पकाया गया है, उसका फल यह होता है कि इस दाता के लिए अन्नता से अन्न पकाया जाता है। ऐसे भावनाहीन दाता को अतितुच्छ फल प्राप्त होता है। दान का दाता को भावनानुसार फल मिलता है।

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः ॥२॥

जो दाता दान और अन्न के महात्म्य को उक्त प्रकार से जानता है उसकी वाणी में शक्ति का रक्षण होता है। वह वाणी से शक्ति का नाश नहीं करता। उसकी वाणी संयम के कारण ओजस्विन होती है। उसके श्वास प्रश्वास में योगक्षेम होता है। अप्राप्यवस्तु की प्राप्ति का नाम योग है और प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम क्षेम है। ये दोनों उसके श्वास प्रश्वास में बने रहते हैं। उसके हाथों में कर्म-उद्योग-होता है। उसके पाओं में चलने का वेग बना रहता है उसके मलत्याग के चक्रमें त्यागने की शक्ति बनी

रहती है। यह मनुष्यसम्बन्धी समाज्ञाएं हैं; मनुष्य के कर्म धर्मों की उत्तम आज्ञाएं हैं। ऊपर के उपदेश मानव धर्म के उपदेश तथा आदेश हैं।

अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति । यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे ॥३॥

अब दैवी आज्ञाएं कही जाती हैं। वृष्टि में तृप्ति, बिजली में बल, पशुओं में यश, नक्षत्रों में ज्योति, गृहस्थधर्म में सन्तति, सुख और आनन्द, और आकाश में सर्वरूप से भगवान् विद्यमान है; ये दैवी कर्म हैं। इनमें दैवी शक्ति काम करती है और आकाश में सूक्ष्मलोक में भगवान् स्वयं सर्वरूप से विद्यमान हैं।

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ॥४॥

जो भगवान् आकाश में सर्वरूप से विद्यमान है, उसे सब की स्थिति तथा आश्रय जान कर, उसकी उपासना करे तो मनुष्य प्रतिष्ठावाला होजाता है उसको महान् जानकर मनुष्य महान् होजाता है। उसे मन—ज्ञानस्वरूप—जानकर उपासना करे तो मनुष्य मननशील, ज्ञानी होजाता है।

तन्नम इत्युपासीत ॥ नम्यन्तेऽस्मै कामाः ॥ तद्ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान भवति । तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्य्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः॥५॥

उस ब्रह्म को सब से नमस्कृत-जानकर उपासना करे तो ऐसे, भक्त को सारे मनोरथ प्राप्त होते हैं । उसको ब्रह्म जानकर उपासना करे तो वह ब्रह्मवाला हो जाता है । वह ब्रह्म ब्रह्म का परम अन्त है, अपनी पराकाष्ठा है यह जानकर उपासना करे तो उसके द्वेषी शत्रु विशेषता से मर जाते हैं और वे मर जाते हैं जो अप्रिय शत्रु हैं ।

स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमांल्लोकान्कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम-गायन्नास्ते ॥६॥

जो यह आनन्द इस ब्रह्मज्ञानी पुरुष में है और जो आनन्द उस आदित्यस्वरूप परमेश्वर में है वह एक है । आनन्द में भेद नहीं है । वह जो मुक्ति के आनन्द को इस प्रकार से जानता है वह इस लोक से मरकर इसअन्नमय के आत्मा को प्राप्त करता है । वह इस प्राणमय के आत्मा को पा लेता है । वह इस मनोमय के आत्मा को पा लेता है । वह इस विज्ञानमय के आत्मा को पा लेता है । वह इस आनन्दमय के आत्मा को पा लेता है । वह इस स्थूलसूक्ष्म में, एक अखण्ड, आत्मा को अनुभव करके इन लोकों में यथेष्ट अन्न वाला,. भोगवाला, स्वेच्छा से रूपवाला होकर विचरता हुआ, साम गाता हुआ रहता है । मुक्त जीव स्वतंत्रता

से ब्रह्मानन्द में लीन रहता है। और जीवन मुक्त आत्मा, स्वेच्छा से प्रारब्धानुसार विचरता हुआ ब्रह्म में मग्न हुआ करता है।

हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो २ ऽहमन्नादो २ ऽहमन्नादः ॥७॥

कामना से विचरने वाला आत्मज्ञानी सार को जानकर कहता है—

अहो आश्चर्य मैं अन्न हूं । मैं अन्न हूं । मैं अन्न हूं । मैं ही अन्न खाने वाला हूं । मैं ही अन्न को खाने वाला हूं । मैं ही अन्न को खाने वाला हूं ; मैं भोग्य और भोक्ता हूं ।

अहं श्लोककृत अहं श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि । यो मा ददाति स इदेव मा३वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्णज्योतिः । य एवं वेद इत्युपनिषद् ॥७॥

मैं कीर्त्तिकर हूँ । मैं कीर्त्तिकर हूँ । मैं कीर्त्तिकर हूँ । ऋत से—ज्ञान से—पहले उत्पन्न हुआ, मैं हूँ । देवों से प्रथम मैं हूँ । मैं अमृत का केन्द्र हूँ । जो मुझे अन्न देता है वह ही भगवान् मेरी रक्षा करता है । मैं अन्न, अन्न को खाते हुए को खाता हूँ । कर्महीन भोक्ता को खा जाता हूँ । मैं सारे प्राकृत जगत् को जीत रहा हूँ । मैं सुवर्ण सदृश ज्योति हूँ । जो जन ऐसा आत्मभाव जानता है उसके लिये यह रहस्य है ।

दशमोऽनुवाक समाप्तः ॥

॥ यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् समाप्तः ॥

ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषत् ।

प्रथम अध्याय (प्रथम खण्ड)

ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यक के अन्तर्गत है । ऐतरेय उपनिषद् महिदास ऐतरेय ऋषिकृत है । इसके तीन अध्याय हैं । इनमें आत्मविद्या का वर्णन किया गया है ।

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥

सृष्टि की रचना से पहले यह एक ही आत्मा परमेश्वर था । वह भगवान् ही ज्ञान से ज्वलन्त रूप में विराजमान था । अन्य कुछ भी नहीं झपकता, हिलता था । भगवान् से भिन्न सकल कारण जगत् अकम्प, अज्ञात और अव्यक्त था । उस आत्मा ने इच्छा की कि कर्मफल भोग के स्थानों को रचूं ।

स इमांल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥२॥

उस सर्वशक्तिमान् भगवान् ने इन आगे वर्णित लोकों को रचा । अम्भम्, मरीची, मर और आपस्-जल-उसने रचे । वह अम्भस्-वाष्प-है, जो ऊपर आकाश में है । उसकी स्थिति, आश्रय द्युलोक है । मरीची अन्तरिक्ष है । अन्तरिक्ष से किरणें आती हैं । इस कारण उसका नाम भी मरीची कहा गया । मर-मरने वाली पृथिवी है । जो नीचे भूमि पर हैं वे जल हैं । वाष्पमय का नाम

अम्भः है और स्थूल जल का नाम आपः, पृथिवी को मरने वाली इस कारण कहा गया कि यह मर्त्यलोक है। जन्म मरण इसी पर होता है। लोकरचना में चार प्रकार के लोक वर्णन हुए हैं—वाष्प-मयलोक, प्रकाशरूप, अन्तरिक्षलोक, पार्थिवलोक और जल-मयलोक ।

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति । सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥३॥

लोकों को रचकर परमेश्वर ने इच्छा की कि यह लोक हैं। अब मैं लोकपालों लोकरक्षकों को रचूं। तब उसने जलों से-सूक्ष्म तत्वों से ही पुरुष को निकाल कर मूर्च्छित किया ; विराट पुरुष को बनाया। विराट् की रचना पुरुषाकार होने से उसे पुरुष कहा है।

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः । प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः । कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वंगिरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥४॥

भगवान् ने उस विराट् को तपाया । नियम नियति में बाँधा । उस ज्ञान से विचारित विराट् का मुख निर्भेदन हुआ उस विराट् में मनुष्यादि देह बन गये और उन में मुख खुल गया;

जैसे अण्डा भेदन होता है । मुख से वाणी हुई और वाणी से उसका देवता अग्नि प्रकट हुआ। दोनों नासिकाएँ खुलीं, दोनों नासिकाओं से प्राण भीतर प्रविष्ट हुआ और प्राण से उसके देवता वायु की सिद्धि हुई। दोनों आँखें खुलीं, आँखों से चक्षु—देखने की शक्ति प्रकट हुई और चक्षु से सूर्य देवता हुआ । दोनों कान खुले; कानों से सुनने की शक्ति प्रकट हुई और श्रोत्र से उस का देवता दिशाएँ हुईं। त्वचा से लोम हुए—स्पर्शशक्ति के केन्द्र —प्रकट हुए। फिर लोमों से अन्न और वनस्पतियाँ हुईं । लोम सदृश ये वस्तुएँ भूमि पर प्रकट हुईं । हृदय खुला; हृदय से मन प्रकट हुआ और मन से चन्द्रमा हुआ । नाभि खुली, नाभि से अपान-अधोभाग प्रकट हुआ और अधोभाग के चक्र से मलत्याग हुआ। जनन-इन्द्रिय खुली, उससे उत्पादन-शक्ति प्रकट हुई और उत्पादनशक्ति से जल हुए।

प्रथम खण्ड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड।

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तम-शनापिपासाभ्यामन्ववार्जत । ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठता अन्नमदामेति ॥१॥

व अग्नि आदि देवता रचे जाकर इस महा समुद्र में विराट् में गिरे उस विराट् काया में भूख और प्यास आगई। चयोपचय आदि भाव प्रगट हुए। वे देवता मानो रचयिता को बोले—हमारा घर हम बताइए। जिसमें रहकर हम अन्न खायें।

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥२॥

वह विधाता, तब उनके लिए गाय लाया । वे बोले-निश्चय यह हमारे लिए पर्य्याप्त नहीं है । फिर वह उनके लिए घोड़ा लाया वे बोले निश्चय यह हमारे लिए पर्य्याप्त नहीं है । उत्तम इन्द्रियों के लिए पशु शरीर उचित नहीं है । तब अन्त में परमेश्वर उनके लिए पुरुष लाया, उसने उनके लिए मानव देह नियत किया । तब वे बोले—अहो, यह उत्तम है; पुण्यरूप है । पुरुष ही सुकृत है । इसी में सुकृत होता है । तब प्रभु ने उनको कहा—यथायोग्य घर में प्रवेश करो ।

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥३॥

भगवान् का आदेश पाकर, वाक् इन्द्रिय का देवता अग्नि बनकर मुख में प्रविष्ट हो गया । वायु प्राण होकर नासिका में प्रविष्ट हो गया । सूर्य्य चक्षु होकर आँखों में प्रविष्ट हो गया । दिशाएँ श्रोत्र होकर दोनों कानों में प्रविष्ट हुईं । ओषधि वनस्पतियाँ लोम होकर त्वचा में प्रविष्ट होगईं । चन्द्रमा मन होकर

हृदय में प्रविष्ट हुआ । मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुआ । जल रेतस् होकर जननस्थान में प्रविष्ट हुये ।

तमशनापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥४॥

तब उसको भूख प्यास ने कहा—हमारे लिये कोई स्थान बताइये । उन दोनों को वह बोला—इन्हीं देवताओं में मैं तुम को स्थापित करता हूँ । इन में तुमको भाग वाले बनाता हूँ । इसी कारण जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है उसमें क्षुधा, तृषा दोनों भाग वाले होते हैं ।

द्वितीय खण्ड समाप्तः ।

तीसरा खण्ड ।

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥१॥

उस भगवान् ने इच्छा की कि ये लोक और लोकपाल हैं जिनको मैंने रचा । अब मैं इनके लिए अन्न की रचना करूँ ।

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत । या वै सा मूर्तिरजायताऽन्नं वै तत् ॥२॥

तब उसने जलों को तपाया; उनको पृथिवी पर स्थूल अवस्था दान की । उन जलों के तपने पर उनमें से मूर्त्ति उत्पन्न

हुई । स्थूल जगत् बना । जो वह मूर्त्ति उत्पन्न हुई वह ही अन्न है। भोग के योग्य पदार्थ मूर्त्तिमान ही हैं ।

तदेनदत्रिसृष्टं परांत्यजिगांसत् तद्वाचा जिघृदात्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम् । स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥३॥

जब विधाता ने इस अन्नको रचा तो वह अन्न देवों को देख कर दूर भाग गया । उस समय उसको देवदल ने वाणी से पकड़ना चाहा, परन्तु वह उसे वाणी से पकड़ न सका । वह यदि इस अन्न को वाणी से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को कह कर अन्न का नाम लेकर ही वह तृप्त हो जाता ।

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

तब उसने इसे प्राण से, साँस से ग्रहण करना चाहा । परन्तु वह इसे, प्राण से न ग्रहण कर सका । वह यदि इसे प्राण से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को सूङ्घकर ही तृप्त होजाता ।

तच्चक्षुषाऽजिघृत् तन्नाशक्नोच्चक्षुषाग्रहीतुम् ।
स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यदृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

उसने इसे आँखसे ग्रहण करना चाहा, पर वह इसे आँख से ग्रहण न कर सका वह यदि इसे आँख से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को देख कर ही तृप्त हो जाता ।

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

उसने उसे श्रोत्र से ग्रहण करना चाहा। परन्तु वह श्रोत्र से ग्रहण न कर सका। वह यदि इसे श्रोत्र से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को सुनकर ही तृप्त हो जाता।

तत्त्वचाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

उसने उसे त्वचा से ग्रहण करना चाहा। वह उसे त्वचा से ग्रहण न कर सका। वह यदि इसे त्वचा से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को छूकर तृप्त हो जाता।

तन्मनसाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

उसने इसे मन से ग्रहण करना चाहा। वह इसे मन से ग्रहण न कर सका। वह यदि इसे मन से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न का ध्यान करके ही तृप्त हो जाता।

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

उसने इसे जननइन्द्रिय से ग्रहण करना चाहा। वह उससे ग्रहण न कर सका। वह यदि उससे ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को त्याग कर ही तृप्त हो जाता।

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत् ।
सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥१०॥

तब उसने इसे अपान से, मुखद्वार से ग्रास आदि भीतर ले जाने वाली वायु से ग्रहण करनाचाहा । तब उसने पकड़ लिया खा लिया । जो मुख में निगलने की पवन है वह यह अन्न का ग्रह है । अन्न को ग्रहण करने की वायु है; अथवा यह जो अन्न ग्रहण करने की वायु है वह अन्न की वायु है । अन्न की स्थिति है, भौतिक शरीर की आयु है । अन्न खाने की शक्ति के साथ ही आयु रहती है ।

ऊपर के सारे अलङ्कार का सार यह है कि इन्द्रियों में उनकी शक्तियों में तथा उनके भोगों के नियमों में नियन्ता की नियति काम करती है । सारी सृष्टि में नियति का हाथ है ।

स ईक्षत कथं न्विदं मद ते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति । स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि प्राणे-नाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं, पद्य यानेनाभ्य यानितं, यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥११॥

उस समय आत्मा ने विचारा यह भौतिक देह मेरे बिना कैसे रहेगी । तब उस जन्म धारण करने वाले आत्मा ने विचारा कि मुखादि किस द्वार से मैं इसमें प्रविष्ट होऊँ । उसने विचारा यदि वाणी से वचन व्यवहार हो जाता यदि घ्राणेन्द्रिय से ही सांस लिया जाता, यदि आँख से ही देखा जाता, यदि कान से

ही सुना जाता, यदि त्वचा से ही छूआ जाता, यदि मन से ही चिन्तन किया जाता, यदि भीतर अन्नादि ले जाने की वायु से ही खाया जाता और यदि जननेन्द्रिय द्वारा ही विसर्जन होता तो फिर मैं कौन हूँ ? मेरा इस देह में क्या स्थान है ?

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथ इति ॥१२॥

वह, ऐसा विचार कर संस्कारानुसारी आत्मा इसी ही सीमा को, सिर के ऊपर के भाग कपाल को फाड़कर इसी द्वार से देह में प्रविष्ट हुआ । नासिका से मस्तक में जाकर स्थित हुआ । सो यह द्वार विदृति नाम से प्रसिद्ध है । वह यह स्थान परमानन्द का हेतु होने से नान्दन नाम से भी प्रसिद्ध है । उस मस्तक में ठहरने वाले आत्मा की तीन अवस्था है; उसके रहने के तीन स्थान हैं । वे तीन निवास स्थान स्वप्न हैं; आत्मा के विश्राम के धाम हैं । उनमें एक यह मस्तक है । दूसरा यह कण्ठ स्थान है । तीसरा यह हृदय स्थान है । इन तीनों स्थानों में आत्मा रहता है ।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यात् किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म तत ममश्यदिदमदर्शमिती ॥१३॥

उसने जन्म लेकर भौतिक दृश्यों को देखा । सृष्टि के सौन्दर्य्य का अवलोकन किया । उसने नाना रचनाएं देखकर केवल उसने इसी ही पुरुष ब्रह्म को अत्यन्त फैला हुआ देखा । सारा विराट् स्वरूप भगवान् की ही

लीला जाना । ऐसा जानकर वह बोला—यह मैंने देख लिया; सृष्टि के सौन्दर्य का सार मैंने जान लिया । इसमें भगवान् की इच्छा का ही प्रकाश है; उसी नियन्ता का नियम रचनाओं में काम कर रहा है।

तस्मादिदन्द्रो नामइद्रो हवै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥१४॥

उसने भगवान् को देखा, इस कारण वह इदंद्र प्रसिद्ध है। इदंद्र ही प्रसिद्ध है । उस इदंद्र होने वाले को ही गुप्तता से इन्द्र कहा जाता है । क्योंकि देवजन, ऋपि महर्षि नाम को रहस्य से रखते हैं। भेद के वाक्य जिज्ञासु को ही कहते हैं।

प्रथम अध्याय तृतीय खण्ड समाप्तः ॥

दूसरा अध्याय (पहला खण्ड)

अपक्रामन्तु गर्भिण्यः पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतस्देतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजःसंभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदास्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ।१।

इस अध्याय में गर्भाधान आदि का वर्णन है, इस कारण मुनि कहता है कि इसके पठन पाठन के समय, गर्भिणी स्त्रियाँ उठकर चली जायें। निश्चय से पुरुष में ही आदि से यह गर्भ—जननबीज—होता है। जो यह रेतस् है, वह यह पुरुष के सारे अङ्गों से तेज—सार—प्रकट होता है । पुरुष अपने आत्मा में

अपने तेज को धारण करता है। वह जब भार्य्या में सींचता है। तब उसको अपने से बाहर जन्म देता है। वह इस का पहला जन्म है; यह गर्भ की पहली अवस्था है।

तत्स्त्रिया आत्म भूयं गच्छति यथा स्वमंगं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति साऽस्य तमात्मानमत्र गतं भावयति ॥२॥

वह रेतस्, जब स्त्री में जाता है तब उसका अपना आप होजाता है, जैसे अपना अङ्ग हो ऐसे। इसी कारण वह स्त्री को नहीं दुःख देता। वह स्त्री पुरुष के इस धारण किये, रेतस् को, जो अपने में यहां आ गया है, पालती है। अपने आहार, विचार तथा पथ्यादि से स्त्री उसको बढ़ाती है।

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३॥

वह माता गर्भ को पालने वाली है इस कारण पति तथा पुत्र से पालने योग्य है। उस गर्भ को स्त्री बड़े यत्न, विवेक से, नव दस मास तक पालती है। पिता जन्म के आगे भी जन्म के पश्चात् कुमार को पालता है और जन्म से पहले भी आचार सुव्यवहार से पालता है। वह पिता जो कुमार को जन्म से पहले तथा पीछे पालता है, आत्मा को ही वह पालता है और इन लोकों को सन्तति से पालता है। सन्तान उत्पादन तथा पालन से

जाति, देश तथा स्वर्ग को बढ़ाता है। क्योंकि ये लोक इसी प्रकार बढ़े हैं। यह इसका दूसरा जन्म है।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयतेऽथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥४॥

वह इसका यह आत्मा, पुत्र पुण्य कर्म से गृहकर्म में पिता का प्रतिनिधि बनाया जाता है तब पिता का अपना आत्मा अपने कर्त्तव्यों को करके बूढ़ी आयु को प्राप्त हुआ शरीर छोड़ जाता है। वह इस लोक से जाते ही कर्मानुसार फिर जन्म लेता है। यह इस का तीसरा जन्म है।

तदुक्तमृषिणा। गर्भेनु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥५॥

यह वामदेव ऋषि ने मुक्त होते समय कहा—मैं गर्भ में होते समय ही इन देवों के सारे जन्मों को जान गयाथा। मैं बाल काल ही में देव लोकों के सारे जन्मों को जान गया था। मुझ को सैकड़ों शरीर लोहे के गढ़ बनकर घेरे रहे। मुझ को सैकड़ों निकृष्ट जन्मों में रहना पड़ा; यह भी मैं जान गया। अब मैं बाज़ की भाँति सब बन्धनों को तोड़ कर देह पिंजरे से तुरन्त निकल गया हूँ। गर्भ में ही रहते हुए वामदेव ने ऐसा कहा था।

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥६॥

वह वामदेव ऋषि इस प्रकार जन्म जन्मान्तरों को जानता

हुआ इस मानव शरीर के त्यागने पर, ऊपर जाकर उस स्वर्ग लोक में—मोक्ष धाम में—सारे मनोरथों को पाकर अमृत हो गया। अमृत हो गया।

द्वितीय अध्याय चतुर्थ खण्ड समाप्तः।

तीसरा अध्याय (प्रथम खण्ड)

यथास्थानं तु गर्भिण्यः कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा रूपं पश्यति येन वा शब्दं शृणोति येन वा गन्धाना जिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥१॥

सन्तानोत्पत्ति आदि का वर्णन करने के अनन्तर ऋषि ने कहा—अब गर्भिणी स्त्रियाँ अपने स्थान पर आ जायें। यह आत्मा कौन है जिसकी हम उपासना करते हैं; जिसको आत्मा हम कहते हैं। वह कौनसा आत्मा है जिससे मनुष्य रूप को देखता है, जिससे शब्द को सुनता है, जिससे गन्धों को सूङ्घता है, जिससे वाणी बोलता है और जिससे स्वादु और अस्वादु रसों को जानता है।

यदेतत् हृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुः असुः कामो वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥२॥

उत्तर में ऋषि ने कहा—वह आत्मा यह है जो हृदय-साक्षी है। जो मन है, मनन शील है। वह आत्मा यह है जो सम्यक् ज्ञान है, जो विस्तृत ज्ञान है, जो विशेष-तत्त्वज्ञान-है, जो पूर्ण ज्ञान है, जो धारणावती बुद्धि है, जो देखने की शक्ति है, जो धैर्य है, जो समझ है, जो स्वतन्त्रता है, जो क्रिया, वेग है, जो स्मृति है, जो सङ्कल्प है, जो दृढ निश्चय है, जो प्राण है, जो इच्छा है और जो वश है, अपना संयक है। ये, ऊपर कहे सारे पूर्णज्ञान चैतन्य-आत्मा के नाम हैं। आत्मा की ही ये संज्ञाएं हैं। इन्हीं गुणों से आत्मा जाना जाता है। उन्हीं गुणोंवाला आत्मा है।

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणिचाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जंगम च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठतं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥३॥

आत्मा का स्वरूप वर्णन करने के अनन्तर ऋषि परमात्मा का स्वरूप वर्णन करता है। जो आगे वर्णन होगा, ब्रह्म है। यह ही इन्द्र है, एश्वर्यवान् है। यह ही प्रजाओं का पति है, परमेश्वर है। यह सारे देव, ये पंच महाभूत, पृथिवी, वायु, आकाश, जल और ज्योतियां, यह ये दूसरे तुच्छ मिले जुले कीट पतङ्ग तथा बीज, और दूसरे अंडों से उत्पन्न होने वाले, जरायु से जन्मने

वाले, पसीने से होने वाले, भूमि से निकलने वाले, और घोड़े गौएं पुरुष हाथी, जो कुछ यह सांस लेने वाला, चलने फिरने वाला, उड़ने वाला, जगत् है तथा जो स्थावर है वह सब प्रज्ञानेत्र है, पूर्णज्ञान से चलाया जारहा है। उसके सारे नियम में प्रज्ञा है; चेतना काम कर रही है। सारा जगत प्रज्ञान में, पूर्णज्ञान में स्थिर है; इसकी स्थिति में भी पूर्णज्ञान का नियम है। सारा विश्व पूर्ण-ज्ञान से चलाया जाता है; विश्व का नियन्ता पूर्ण ज्ञानी है। पूर्ण-ज्ञान ही विश्व की स्थिति है; आधार है। वही पूर्णज्ञान ब्रह्म है। परमेश्वर निर्भ्रान्त है। सर्वज्ञ है और विश्व का नियन्ता, संचालक तथा आश्रय है।

स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामान प्त्वाऽमृतः समभवत्, समभवत् ॥ ४ ॥

वह वामदेव ऋषि इसी सर्वज्ञ आत्मा से, इसी पूर्ण ज्ञान-स्वरूप परमेश्वर के अनुग्रह से इस मर्त्य लोक से निकल कर उस मोक्षधाम में सारे मनोरथों को पाकर मुक्त होगया; मुक्त होगया।

वाङ्‌ मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः, श्रुतं मे मा प्रहा-सीरनेनाधीतेनाऽहोरात्रान्संदधामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि, तन्मावतु, तद्वक्तारमवतु, अवतु मामवतु वक्तार-मवतु वक्तारम्। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

उपनिषद् समाप्त करके ऋषि प्रार्थनारूप शान्तिपाठ पढ़ता

है । मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, मन में रहे । सदा मैं सोच विचार कर बोलूं । मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो जब मैं बोलूं मन से बोलूं । मेरा मन वचन एक हो । भीतर बाहर एकसा हो, हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! मुझ पर प्रकाश बढ़ा । मेरे मन वचन वेद के लाने में समर्थ हों; मुझ पर वेद विद्या का प्रकाश हो । मेरा सुना हुआ शास्त्र न नष्ट हो, न विस्मृत हो । इस पढ़े हुए ज्ञान से मैं दिन रात को जोड़ता हूँ; दिन रात ग्रन्थ पाठ में लगाता हूँ । मैं सदा यथार्थ कहूँगा, सत्य कहूँगा । वह प्रभु मेरी रक्षा करे, वह भगवान् सत्यवक्ता को पाले । मुझे पाले, वेद वक्ता को पाले, वेद वक्ता को पाले ।

॥ तृतीयो अध्याय पंचम खण्ड समाप्तः ॥

❀ इति ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषत्समाप्ता ❀

छान्दोग्योपनिषद्

यह उपनिषद् ताण्ड्य महा ब्राह्मण का भाग है। इसमें उपासना का नाना भावों में वर्णन किया गया है। आत्मा और परमात्मा का भी इसमें अद्भुत प्रकार से वर्णन है। इसके वर्णन की शैली प्राचीतम है और कहीं कहीं सांकेतिक है।

प्रपाठक (खण्ड पहला)

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥

मनुष्य उपासना के समय ओम् इस अक्षर, उद्गीथ की आराधना करे। उद्गाता ओम् कहकर ही गाया करता है। उस नाम का यह आगे व्याख्यान है।

एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रसः ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥२॥

इन पांच भूतों का सार प्रथिवी है प्रथिवी का सार जल है। जलों का सार अन्नादि ओषधियां हैं ओषधियों का सार पुरुष है, पुरुष का सार उसकी वाणी है। वाणी का सार (भगवान् की स्तुति) ऋग है, ऋग का सार साम है, साम का सार भगवान् का नाम गायन है। सब सारों का सार भगवान् का नाम है।

स एष रसानां रसतमः परमः पराध्योऽष्टमो यदुद्गीथः॥३॥

वह यह जो आठवां सार, भगवान् का नाम है, यह सारों

का सार है, परम सार है, परमानन्द है। परमधाम है, सब से उत्कृष्ट स्थान है।

कतमा कतमर्कतमत्कतमत्साम, कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥४॥

ऊपर वर्णन किये गये ऋक, साम और उद्गीथ में से कौन ऋक् है। कौन साम है। और कौन उद्गीथ है। अब इसका विचार होगा।

वागेवर्क्, प्राणः सामोमित्येतदक्षारमुद्गीथस्तद्वा एतत् मिथुनम् । यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥५॥

वाणी ऋक् है। साम प्राण है। वाणी से स्तुति होती है और प्राणशक्ति से वह स्तुति गाई जाती है, इस कारण वाणी ऋक् है और प्राण साम है। ओम् यह अक्षर-नाम-उद्गीथ है। अथवा वह यह मिथुन है, जोड़ा है। जो वाक् और प्राण युगल है, ऋक् और साम युगल है।

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥६॥

यह वह मिथुन वाक् और प्राण, ऋक और साम, ओम् इस अक्षर में सम्बन्धित होता है; ओम् में भगवान् के नाम में जुड़ जाता है। अर्थात् जब भगवान् की स्तुति वाणी द्वारा शक्ति से गाई जाय तो मनुष्य पूर्ण काम होजाता है।

आपयिता ह वै कामनां भवति य एतदेवं विद्वानक्षर-मुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

जो इस प्रकार जानता हुआ इस अक्षर उद्‌गीथ (ओंकार) की उपासना करता है, निश्चय वह कामनाओं का प्राप्त करने वाला हो जाता है।

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाहैषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्द्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्‌गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

वह यह ओम् अनुज्ञा अक्षर है; इसका अर्थ अनुमति भी है। जब ही कोई कुछ अनुमति देता है, तो ओम् ऐसा कहता है। यह जो अनुज्ञा है, अनुमति है, निश्चय समृद्धि है; अनुग्रहरूप है। अनुमति देना अनुग्रह है। जो भगवद्भक्त इस प्रकार जानता हुआ इस अक्षर उद्‌गीथ की उपासना आराधना करता है, निश्चय वह कामनाओं का वर्द्धक होजाता है।

तेनेयं त्रयी विद्या वर्त्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्‌गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥९॥

उसी अक्षर से यह त्रयी विद्या प्रवृत्त होती है। ओम् ऐसा कह कर अध्वर्यु ऋक को सुनाता है; मन्त्र पाठ पढ़ाता है। ओम् ऐसा कह कर होता स्तुति करता है; यजु मन्त्रों से हवन करता है। ओम् ऐसा कह कर उद्‌गाता साम को गाता है। इसी अक्षर की पूजा के लिए, इसी अक्षर की महिमा से तथा रस से, आनन्द से सारे कृत्य किये जाते हैं।

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव

वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १०॥

जो मनुष्य ओ३म् की महिमा इस प्रकार जानता है, और जो नहीं जानता है, वे दोनों उसी ओम् नाम के आश्रय से काम करते हैं। ज्ञानी अज्ञानी दोनों उसी प्रभु के नियम में काम करते हैं। किन्तु विद्या भिन्न फल वाली है और ऐसे ही अविद्या पर जो ज्ञानी, जो कुछ ही कर्म विद्या से करता है; जानकर समझ कर करता है, श्रद्धा से--सच्ची धारणा से--करता है और उपनिषद् के ज्ञान से करता है उसका वही कर्म अतिबलवान् होता है। निश्चय से यह पूर्ववर्णित विषय इसी ही अक्षर का व्याख्यान है; भगवान् के नाम का ही वर्णन है।

भगवान् के नाम की महिमा को जान कर ज्ञान से, सच्ची धारणा से और उपनिषद् के परमार्थ से जो कर्म किया जाता है उसका संस्कार प्रबल होता है और फल भी अत्युत्तम होता है।

॥ प्रथम खण्ड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड ।

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे उभये प्रजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥१॥

दोनों प्रजापति के पुत्र देव और असुर, निश्चय से जिस समय युद्ध कर रहे थे, परस्पर लड़ रहे थे; उस उस समय देवगण वहां उद्गीथ ले आये। इस लिए कि इस उद्गीथ से इन असुरों को हम जीत लेंगे।

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासां चक्रिरे। तं हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति; सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥२॥

वे देव नासिकागत प्राण को अवलम्बन करके ओंकार की उपासना करने लगे। तब उस प्राण को असुरों ने पाप से विद्ध किया। क्योंकि मनुष्य उस प्राण से दोनों को सूंघता है; सुगन्धि को भी और दुर्गन्धि को भी। यह प्राण निश्चय पाप से विद्ध है।

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तां हासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तयो भयं वदति सत्यं चानृतं च। पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥३॥ अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तेनोभयं पश्यति; दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥४॥

उसके पश्चात् देवों ने वाणी को प्रधान बना कर उद्गीथ (ओंकार) की उपासना की उस वाणी को असुरों ने पापसे विद्ध किया। इसी कारण मनुष्य उस वाणी से दोनों को बोलता है। सत्य को भी और झूठ को भी। निश्चय से यह पाप से विद्ध है।

तदनन्तर देवों ने नेत्र को प्रधान मान कर उद्गीथ उपासना की। उस नेत्र को असुरों ने पाप से विद्ध किया। इस कारण मनुष्य उससे दोनों को देखता है, देखने योग्य को और अदर्शनीय को निश्चय से यह नेत्र पाप से विद्ध है।

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना

विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥५॥

तब देवों ने श्रोत्र को प्रधान मान कर उद्गीथ उपासना की। उसको असुरों ने पाप से विद्ध किया। इस कारण, मनुष्य उससे दोनों को सुनता है सुनने योग्य को और न सुनने योग्य को निश्चय यह पाप से विद्ध है।

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳसंकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥६॥

तब देवों ने मन को प्रधान मान कर उद्गीथ उपासना की। उसको असुरों ने पाप से वद्ध किया। इस कारण, मनुष्य उससे दोनों को विचारता है, विचारने योग्य को और अविचारणीय को। निश्चय से यह पाप से विद्ध है।

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुः, यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत्॥७॥

तदनन्तर जो यह ही मुख्य प्राण है, मुख में रहने वाला प्राण है उसको प्रधान मानकर देवों ने उद्गीथ उपासना की, उस मुख्य प्राण को पहुँच कर असुर ऐसे नष्ट होगये जैसे पत्थर को लगकर मिट्टी का ढेला नष्ट होजाता है।

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवं हैव स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते, यश्चैनमभिदासति। स एषोऽश्माखणः॥ ८॥

इसी प्रकार जैसे अभेद्य शिला को लगकर मिट्टी का ढेला नष्ट होजाता है, ऐसे ही वह नष्ट होजाता है जो इस प्रकार उपासना करने वाले में अनिष्ट कामना करता है; और जो इस उपासक को हनन करता है । क्योंकि यह उपासक अभेद्य शिला है।

नैवतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येषः । तेन यदश्नाति यात्पिबति तेनेतरान् प्राणानवत्येतमु एवान्ततोऽविदित्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥ ९ ॥

मनुष्य, इस प्राण से, मुखस्थ प्राणशक्ति से न सुगन्धित को न दुर्गन्धि को जानता है; यह प्राण निर्विषय है । इसी कारण निश्चय यह प्राण पाप रहित है । मनुष्य इस प्राण से, जो कुछ खाता है और जो कुछ पीता है उस खान पान से वह दूसरे प्राणों को, इन्द्रियों को रक्षित करता है; दूसरे प्राणों को पालता है । और इसी को ही, अन्त तक न जानकर, न समझकर, जब कोई देह से बाहर निकलता है—मरने लगता है तो अन्त में मुख फाड़ कर रोता है ।

तꣳहांगिरा उद्गीथमुपासांचक्रे एतमु एवांगिरसं मन्यन्तेऽगांनां यद्रसः ॥१०॥

इस उपासना पर उदाहरण देता हुआ मुनि कहता है—

अङ्गिरा नाम महर्षि उसी प्राण को, मुखस्थ प्राण को साधन बनाकर उद्गीथ उपासना किया करते थे, इससे उसका कल्याण होगया । इस कारण तब से इस प्राण को ही ब्रह्मज्ञानी अङ्गिरा कहते हैं, क्योंकि यह अङ्गों का रस है, सारी इन्द्रियों का है ।

तेन तꣳह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्रे एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग् हि बृहती तस्या एष पतिः ॥११॥

उसी साधन से, उस मुख्य प्राण द्वारा बृहस्पति महर्षि, ओ३म् की उपासना करता था । तब से इस प्राण को ही, ब्रह्मज्ञानी, बृहस्पति मानते हैं । क्योंकि वाणी ही बड़ी है, और उस मुखस्थ का यह प्राण, पति है ।

तेन तꣳहायास्य उद्गीथमुपासांचक्रे एतमु एवायास्यं मन्यन्ते । आस्याद्यदयते ॥१२॥

उसी साधन से, उस मुख्य प्राण द्वारा, अयास्य मुनि ने ओ३म् नाम की उपासना की । तब से इस प्राण को ही, उपासक जन, अयास्य मानते हैं; क्योंकि यह प्राण मुख से आता जाता है ।

तेन तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार । स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव । स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ १३ ॥

उसी साधन से ओंकार को दल्भ्यमुनि के पुत्र बक महात्मा ने जाना; उसने आराधना की उसके प्रताप से, वह नैमिषारण्य-निवासी जनों का उद्गाता हो गया । सामगीतों द्वारा, वह उनके लिये मनोरथों को गाया करता था ।

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षर-मुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

निश्चय से वह मनुष्य मनोरथों का गाने वाला, पूर्ण करने वाला होता है जो उपासक इस अक्षर उद्गीथ (ओंकार) को,

इस प्रकार से जानता हुआ उपासना करता है। यह अध्यात्म पक्ष कहा गया।

द्वितीय खण्ड समाप्तः ॥

तीसरा खण्ड

अथाधिदैवतम् । य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत । उद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति; उद्यंस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

अब भगवान् के नाम का अधिदैवत वर्णन किया जाता है। जो ही यह सूर्य्य तपता है; उष्णता छोड़ता है, उसको सम्मुख रख कर उद्गीथ की आराधना करे। तेजोमय सूर्य्य में भगवान् की सत्ता को समझे। यह सूर्य्य उदय होता हुआ प्रजाओं के लिए उनके मनोरथों को पूर्ण करता है। उदय होता हुआ अन्धकार और भय का हनन करता है। निश्चय से, वह उपासक भय और अज्ञानान्धकार का नाशक होजाता है, जो भगवान् की महिमा को ऐसे जानता है।

समान उ एवायं चासौ, चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ, स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुम् । तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

तथा यह मुखस्थ प्राण और वह सूर्य्य समान ही है। यह प्राण उष्ण है, जीवन उष्मा दान करता है और वह सूर्य्य भी उष्ण है। इस प्राण को स्वर, चलने वाला, ऐसा कहते हैं और

उसको स्वर तथा प्रत्यास्वर कहते हैं; जाने और आने वाला कहते हैं। इस कारण, इस प्राण को और उस सूर्य्य को समान जान उपासना करे। प्राण मनुष्य देह को जीवन तथा उष्णता देता है और सूर्य सारे सौरलोक को।

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानःसा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥३॥

फिर, निश्चय से व्यानशक्ति को ही ध्यान में रख कर ओम् की उपासना करे। निश्चय, जो प्राण लिया जाता है वह प्राण है और जो मुख से बाहर निकाला जाता है वह अपान। और जो प्राण अपान की सन्धि है वह व्यान है। जो व्यान है वह ही वाणी है; बोलने की शक्ति है। इसी शक्ति से साम में नाम गाया जाता है। इसी कारण न प्राण लेते हुए और न अपान छोड़ते हुए मनुष्य वाणी को बोलता है। यहाँ व्यान से एकाग्रता समझी गई है।

या वाक् सा ऋक्। तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यां ऋक् तत्साम। तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति। यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणान्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

जो वाणी है वह ऋक है। इस कारण न प्राण लेते हुए न अपान छोड़ते हुए मनुष्य ऋचा को बोलता है। जो ऋचा है वह साम है, वही गाई जाती है। इस कारण न प्राण लेते हुए और न अपान छोड़ते हुए मनुष्य साम गाता है; एकाग्रता से गाता है।

जो साम है वह ही उद्गीथ है । इस कारण मनुष्य न प्राण लेता हुआ और न अपान छोड़ता हुआ गाता है ।

अतो यान्यन्यानि वीर्य्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानँस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥५॥

इसके अतिरिक्त, जो दूसरे बलवाले कर्म हैं, जैसे अग्नि का मथ कर निकालना, संग्राम में दौड़ कर जाना और दृढ़ धनुष को तानना; वे सब कर्म, मनुष्य प्राण न लेता हुआ और अपान न त्यागता हुआ करता है । वे कर्म साँस की समता—व्यान—में किये जाते हैं । इस कारण से, व्यान को ही लक्ष्य बना कर ओ३म् की उपासना करे ।

अथ खलू द्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथइति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नथमन्ने हीदँ सर्वँ स्थितम् ॥६॥

अब निश्चय, उद्गीथ के अक्षरों को विचारे । वे उत्, गी और थ हैं । प्राण ही उत्—ऊपर उठना—है । प्राण से ही मनुष्य उठता है । वाणी गी है । वाणी को गिर कहते हैं । अन्न थ है । अन्न में ही यह सारा प्राणि जगत ठहरा हुआ है । उद्गीथ अक्षरों का अर्थ समुन्नत होना, गाना और स्थिति वा समता है ।

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थँसामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीः ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं

योवाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥७॥

द्युलोक ही उत् है। अन्तरिक्ष गी है; इसमें वाणी बोली जाती है। पृथिवी थ-स्थिति-है। सूर्य्य ही उत्-ऊपर-है। वायु गी-वाणी-है। अग्नि थ स्थिति है; इसमें जगत् की स्थिति है। उष्णता के आश्रित जगत् है। सामवेद ही ऊपर है, ऊँचा गाया जाता है। यजुर्वेद समान वाणी है। ऋग्वेद सब वेदों की स्थिति है। ऐसे उपासकों के लिये वाणी सार को दोहती है। जो वाणी का सार है, वह ओम् नाम है। वह उपासक अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। जो इन उत्तम भावों को इस प्रकार जानता हुआ उद्गीथ अक्षरों को विचारता है।

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीतयेन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

इसके अनन्तर निश्चय से आशीर्वाद को, समृद्धि-इच्छित ऐश्वर्य को और चिन्तित भोगों को विचारे। उद्गाता उनको भली भाँति समझ ले। फिर जिस सामगान से उन की स्तुति करनी हो उस साम को भी विचारे।

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥ ९ ॥

जिस ऋचा में साम हो उस ऋचा को, जो उसका ऋषि हो उस ऋषि को और जिस देवता की स्तुति करनी हो उस देवता को विचारे।

येनच्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तꣳ स्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥ यां दिशमभिष्टोष्यंन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥

जिस गायत्र्यादि छन्द से स्तुति करनी हो उस छन्द को विचारे। जिस स्तोम-स्तोत्र-से स्तुति करनी हो उस स्तोत्र को विचारे। जिस दिशा में बैठ कर स्तुति करनी हो उस दिशा को विचारे।

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीतकामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृद्ध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२॥

इस प्रकार विधिपूर्वक सब साधन विचार कर अन्त में भावना से परमात्मा के पास जाकर, उसका ध्यान करके स्तुति करें, मनोरथ मांगे। प्रमादरहित होकर फल चिन्तन करता हुआ जो फल मांगता है, निश्चय शीघ्र ही इसके लिए वह फल उपस्थित होजाता है।

तृतीय खण्ड समाप्तः ॥

चौथा खण्ड

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

इसका अर्थ पूर्व लिख आये हैं।

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् । ते छन्दोभिराच्छादयन् । यदेभिराच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

निश्चय उपासक जन मृत्यु से डरते हुए, अमर पद के लिये ऋक्, यजु, सामरूप त्रयी विद्या में प्रविष्ट हुए । उन्होंने अपने आपको छन्दों से आच्छादन कर लिया। जो उन्होंने इन छन्दों से अपने आपको आच्छादन किया, स्तोत्रों से स्वात्मा को सुरक्षित बनाया वह ही छन्दों का छन्दपन है।

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि । ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥३॥

जैसे मछलीमार मछली को जल में देख लेता है इसी प्रकार वहाँ ऋग् में, साम में, यजु में उन देवों को मृत्यु ने देख लिया। शब्दों में वे कालकी ताक से न बचे। वे उपासक वहाँ भी मृत्यु को देवता जान कर अन्त में ऋग् से, साम से, यजु से ऊपर स्वर में ही भगवान् की धुन में प्रविष्ट हो गये।

यदा वा ऋचामाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳसामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥४॥

इसी कारण उपासक जब ऋग्वेद को पढ़ता है ओम् ही आदर से उच्चारण करता है। ओम् को स्वर में गूंजाता है; इसी

प्रकार साम इसी प्रकार यजु के पाठ समय। जो यह स्वर है, यह अक्षर-नाम-है। यह अमृत है, निर्भयपद है। उपासक जन उस नाम की ध्वनि में प्रविष्ट होकर ध्यान करके अविनाशी और निर्भय होगये।

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्यैतदेवाक्षरꣳस्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥५॥

वह जो उपासक इस अक्षर की महिमा को, ऐसे जानता हुआ स्तुति करता है, उसको स्वर में गाता है, तथा इसी ही अक्षर में, ध्वनि में, अमृत में, और अभयपद में ध्यान द्वारा प्रवेश करता है वह उपासक, जैसे देव उसमें लीन होकर अमर होगये, वैसे ही अमर होजाता है।

चतुर्थ खण्ड समाप्तः ॥

पांचवां खण्ड

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति॥१॥

इसके अनन्तर, निश्चय जो साम में उद्गीथ है, स्तोमों में गाया गया है वह प्रणव है, भगवान् का नाम है। जो प्रणव है वह ही उद्गीथ है। यह सूर्य, उद्गीथ और यह प्रणव ओम् ही है। क्योंकि यह सूर्य स्वर निकालता हुआ ही आता है।

एतमु एवाहमभ्यागासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मीꣳस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

पुराकाल में, कौपीतकि ऋषि ने अपने पुत्र को कहा—इसी ही अक्षर को मैंने गाया था। इस कारण मेरा तू एक पुत्र है। तू अब किरणों को देख; सूर्य्य में भगवान् की महिमा को जान। इस से निश्चय तेरे बहुत पुत्र हो जायेंगे। यह अधिदैवत है।

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतो-मिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

अब अध्यात्म वर्णन होता है। जो ही यह मुखस्थ प्राण है उसको उद्गीथ जान कर उपासना करे। क्योंकि यह प्राण ओम् ही उच्चारण करता हुआ आता है।

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौपीतकिः पुत्रमुवाच प्राणांस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

पुराकाल में कौपीतकि ने अपने पुत्र को कहा—इसी ही नाम को मैंने प्राण के साथ गाया था। उसकी आराधना से मेरा तू एक सुयोग्य पुत्र है। अब तू प्राणों को वश करके महान् भगवान् को गा, और यह कामना कर कि निश्चय मेरे बहुत पुत्र हो जायेंगे।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरतीत्यनुसमाहर-तीति ॥ ५ ॥

तब निश्चय जो उद्गीथ है वह प्रणव है। जो प्रणव है वह

उद्गीथ है जो सामस्तोमों के गायन को जानता है वह होता के स्थान से निश्चय पूर्वक अशुद्ध गीत को हटा लेता है। वह जो उचित है वही बात कहता है।

पञ्चम खण्ड समाप्तः ॥

छठा खण्ड

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते इयमेव साऽग्निरमस्तत्साम ॥ १ ॥

इस पृथिवी के समान ऋग्वेद है, अग्नि साम है; साम की अग्नि सदृश उर्ध्वगति है। सो इस ऋचा के अन्तर्गत साम है। साम और ऋग्वेद एक हैं। इस कारण ऋचा में अधिरूढ साम गाया जाता है। यह पृथिवी ही सा है, अग्नि अम है। सा और अम की सन्धि साम शब्द है।

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः सामः तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम २॥ द्यौरेवर्गादित्यः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। द्यौरेव सा, आदित्योऽमस्तत्साम ।३। नक्षत्राण्येवक, चन्द्रमाः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम; तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। नक्षत्राण्येव सा, चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

दूसरे प्रवाक में अन्तरिक्ष को ऋक् और वायु को साम

कहा है । इसका आशय यह है कि आशावत् विशाल है, और साम वायुवत् वेग वा उतराव चढ़ाव से गाया जाता है । तीसरे प्रवाक में ऋक् को द्यौ लोक कहा है और साम को सूर्य । ऋग्वेद द्यौवत् ऊर्ध्वलोकवत् अनेक प्रकाशों से सुशोभित है और साम सात स्वरों से सप्त किरणों वाले सूर्य्य के सदृश है । चौथे प्रवाक में ऋक् को नक्षत्र कहा है और साम को चन्द्रमा । ऋग्वेद नक्षत्रोंवत् अनेक दीप्तियों वाला है और साम सर्वकला सम्पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर है ।

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते ॥ ५ ॥ अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रण-खात्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥

और जो यह सूर्य्य की श्वेत शुभ्र दीप्ति है वह ही ऋक है और जो नीलवर्ण तथा परम कृष्ण वर्ण तेज है वह साम है । इस पंचम प्रवाक में, जो आध्यात्म सूर्य्य अभ्यासियों को दीखा करता है उसका संकेत है । समाधि में, ऐसे प्रकाशों युक्त आदित्य प्रकट हुआ करता है । और जो यह सूर्य्य के भीतर सुवर्णमय पुरुष दीखता है, वह सुवर्णमयी डाढ़ीवाला है और सुवर्ण के केशों वाला है तथा नख से ऊपर तक सारा ही सुवर्णमय है ।

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः

पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥७॥

जैसे कपिल रङ्ग का कमल हो ऐसी उसकी आँखें हैं; अर्थात् उसके नेत्र श्यामल हैं। उसका नाम उत—ऊपर—वा उत्कृष्ट है उसे परम पुरुष कहते हैं। सो यह भगवान् सारे पापों से ऊपर है: इस कारण उसका नाम उत् है। निश्चय से उपासक सारे पापों से ऊपर चला जाता है; निष्पाप हो जाता है जो भगवान् के ऐसे शुभ्र ज्योतिस्वरूप को जानता है। वह स्वरूप महिमा प्रदर्शक है।

तस्यर्क् च साम चगेष्णौ तस्मा दुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गीतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

उस आदित्य धामस्थ पुरुष के, ऋक् और साम दोनों, गाने वाले हैं। इनमें उसका वर्णन है। इस कारण उसका नाम उद्गीथ है। उद्गीथ का अर्थ है साम में गाया "उत्"। इस कारण ही गाने वाले का नाम उद्गाता है। वह इस-उत्-का ही गाने वाला है। सो यह उद्गीथ नामी भगवान्, जो इस सौरलोक से ऊपर के भी लोक हैं, उनका शासक तथा नियन्ता है वह ही परमेश्वर देवों की कामनाओं का भी शासन करता है। वहभगवान् सारे लोकों का शासन करता है और देवों के मनोरथों को पूर्ण करता है। यह देवता सम्बन्धी वर्णन हुआ।

षष्ठ खण्ड समाप्तः ॥

सातवां खण्ड

अथाध्यात्ममम्; वागेवर्क् प्राणः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। वागेव सा, प्राणोऽमस्तत्साम ॥१॥

अब अध्यात्म वर्णन होता है। वाणी ही ऋक् है। प्राण साम है। अन्य पूर्ववत् है।

चक्षुरेवर्गात्मा साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। चक्षुरेव सा, आत्माऽमस्तत्साम ।२। श्रोत्रमेव ऋक्, मनः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥३॥

दूसरे प्रवाक में आँख को ऋक् कहा है और आत्मा को साम। ऋग्वेद का पाठ आँख से पढ़कर किया जाता है परन्तु सामगायन आत्मा से, गहरी भावना से होता है। तीसरे प्रवाक में कान को ऋक् की उपमा दी है और मन को साम बताया है। ऋग्वेद का श्रवण श्रोत्र से होता है और साम गायन मनो भावना से।

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

तथा जो यह आँख की शुक्ल ज्योति है वह ही ऋक् है

और जो नीलवर्ण, परम कृष्ण तेज है वह साम है। यह वर्णन भी अध्यात्म-ज्योति का है। ऐसे प्रकाश ध्यानियों को परमपद से प्राप्त हुआ करते हैं। वे प्रकाश, ईश्वरोपासना के फल ही जानने चाहियें।

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

और जो यह आँख के भीतर पुरुष दीखता है, ध्यान में जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह ही ऋक् है, वह साम है, वह साम का स्तोत्र है, यह यजुर्वेद है।और वह ही सर्ववेद में वर्णित ब्रह्म है-परमेश्वर है। इसका वह ही रूप है जो उस सूर्यान्तर्गत पुरुष का रूप है। जो उस सूर्यगत स्वरूप के गाने वाले ऋक् तथा साम हैं, वे ही इसके गाने वाले हैं जो उसका "उत्" नाम है वह ही इसका नाम है।

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्तितस्मात्ते धनसनयः ॥ ६ ॥

वह यह भीतरी आँख में दीखने वाला पुरुष, जो इस भूमि से नीचे रहने वाले लोक हैं उनका शासन करता है; उनका नियन्ता है। और पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों का भी शासक है, ईश्वर है। वे जो ये उपासक, वीणा में स्वरतार सहित, गीत

गाते हैं वे इसी ईश्वर को गाते हैं । इसी कारण वे धनवान, भाग्यवान तथा पुण्यवान हैं ।

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताᳬंश्चाप्नोति देवकामाᳬंश्च ॥ ७ ॥

अब इस उपासना का फल कहा जाता है । जो उपासक इस पुरुष को इस प्रकार जानता हुआ साम गायन करता है, वह ध्यान में भीतर दृष्ट वा सूर्य में अवलोकित, दोनों स्वरूपों को गाता है क्योंकि दोनों एक हैं । वह भक्त उस सूर्यान्तर्गत पुरुष की उपासना से और वह जो यह भीतरी अध्यात्मनेत्र से जाना जाता है उसकी आराधना से जो उस सौर-लोक से ऊपर लोक हैं उनको प्राप्त करता और देवों के मनोरथों को सिद्ध कर लेता है । ऐसे उपासक का परममोक्ष हो जाता है ।

अथानेनैव, ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति, मनुष्यकामांश्च । तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥८॥

और जो उपासक इसी आंख से देखे अर्थात् भीतरीनेत्र से देखे हुए पुरुष से ही फलकामना करता है, वह सकाम कर्मी, जो इस पृथिवी के नीचे लोक हैं उनको पाता है और मनुष्य के मनोरथों को उपलब्ध करता है । इस कारण ऐसा भेद जानने वाला उद्गाता यजमान को बोले ।

कं ते काममागायानीति । एष ह्येव कामागानस्येष्टे । य एवंविद्वान् साम गायति, साम गायति ॥९॥

मैं तेरे लिए कौन कामना गाऊं, कौन मनोरथ मांगूं । क्योंकि यह ही मनोरथ मांगने वाले का ईश्वर है । यही कामना-पूर्ण करने में समर्थ है । जो इस प्रकार जानता हुआ साम गाता है वह साम गाता है ।

सप्तम खण्ड समाप्तः ॥

आठवां खण्ड ।

त्रयो होद्‌गीथे कुशला बभूवुः, शिलकः शालावत्य श्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति । ते होचुरुद्‌गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्‌गीथे कथां वदाम इति ॥१॥

पुराकाल में तीन ऋषि उद्‌गीथ में निपुण हुए । शालावान् का पुत्र शिलक, चिकितायन का पुत्र दाल्भ्य और जीवल का पुत्र प्रवाहण । वे मिल कर परस्पर बोले—निश्चय से हम उद्‌गीथ में कुशल हैं । यदि चाहो तो उद्‌गीथविषय में कथा कहें ।

तथेति ह समुपविविशु स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच । भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामीति ॥२॥

वे बहुत अच्छा कहकर बैठ गये । वह उस समय जीवल का पुत्र प्रवाहण राजा बोला—पूजनीयो ! आप आगे बोलें । मैं आप बोलते हुए ब्राह्मणों की वाणी को सुनूंगा ।

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

उस शिलक शालावत्य ने चैकितायन दाल्भ्य को कहा—अच्छा मैं आप से पूछूं? वह बोला पूछ ।

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥

उसने पूछा—साम का कौन आश्रय है? दाल्भ्य ने कहा—स्वर है; स्वर में साम है। फिर उसने पूछा—स्वर की कौन स्थिति है? दाल्भ्य ने कहा—प्राण है; मुखस्थ प्राणशक्ति से स्वर निकलता है। उसने पूछा—अन्न को कौन गति है? वह बोला जल है; जलों से अन्न होते हैं।

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोकँ सामाभिसंस्थापयाम स्वर्गसँस्तावँ हि सामेति ॥ ५ ॥

शिलक ने पूछा—जलों की कौन गति है? वह बोला—वह लोक है, सूर्य्यलोक है; स्वर्ग है। उसने पूछा—उस लोक की कौन गति है? वह बोला—न स्वर्गलोक को लांघना चाहिए। हम स्वर्ग लोक को साम से स्थापन करते हैं, उद्‌गीथ उपासना का फल स्वर्गप्राप्ति बताते हैं, क्योंकि स्वर्ग की स्तुति करने ही वाला साम है।

तँ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥

यह सुन कर उस चैकितायन दाल्भ्य को शिलक शालावत्य बोला—दाल्भ्य ! निश्चय तेरा साम आश्रय रहित है; तुच्छ फल-वाला है। यदि कोई उपासना में प्रवीण इस समय तुझे कहे कि तेरा सिर गिर जायगा तो इस मिथ्या कथन से तेरा सिर गिर पड़े।

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति; विद्धीति होवाच। अमुष्य लोकस्य का गतिरिति ? अयं लोक इति होवाच। अस्य लोकस्य का गतिरिति ? न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच। प्रतिष्ठां वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः; प्रतिष्ठा-संस्तावं हि सामेति ॥७॥

दाल्भ्य ने निरुत्तर होकर विनय से कहा—अच्छा मैं, यह आप से जानना चाहता हूं। तब शिलक ने कहा—जानिए। उसने पूछा—उस स्वर्गलोक का कौन आश्रय है ? वह बोला—यह पृथिवी लोक है। फिर उसने पूछा—इस लोक का कौन आश्रय है ? वह बोला—प्रतिष्ठा लोक को नहीं लांघना चाहिए। हम प्रतिष्ठा लोक को साम से स्थापन करते हैं। साम का फल हम उत्तम मानुषी जन्म बताते हैं। क्योंकि प्रतिष्ठा लोक की स्तुति करने वाला ही साम है।

तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच। अन्तवद्वै किल ते शालावत्य ! साम । यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मूर्धा ते विपतेदिति । हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति, विद्धीति; होवाच ॥८॥

उस शालावत्य को प्रवाहण जैवलि ने कहा–शालावत्य ! निश्चय तेरा सामफल अन्तवाला है; नाशवान् है । यदि कोई सामोपासना में पारंगत तेरे मिथ्या कथन से अप्रसन्न होकर, इस समय कहे कि तेरा सिर गिर जायगा तो तेरा सिर गिर पड़े । यह सुनकर शालावत्य ने विनय से कहा–अच्छा, मैं यह आप से जानना चाहता हूं । उसने उत्तर दिया ।

अष्टम खण्ड समाप्तः ॥

नवां खण्ड ।

अस्य लोकस्य का गतिरिति ? आकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम् ॥१॥

शालावत्य ने विनय से पूछा–इस लोक का कौन आश्रय है ? उत्तर में प्रवाहण बोला–आकाश है; सब का प्रकाशक वा सर्वत्र प्रकाशित परमेश्वर है । निश्चय से ये सारे प्राणी परमेश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही मर कर जाते हैं, जन्म मरण

का नियन्ता भगवान् ही है। परमेश्वर ही–इन प्राणियों से महत्तम है; उस से ऊपर कोई भी नहीं है। परमेश्वर सब का परायण परमधाम–है।

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयास ँ्मुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

वह आकाश ब्रह्म, यह दूसरो से वरतम, सर्वश्रेष्ठ उद्गीथ है; वाचक वाच्य ईश्वर है। वह यह अनन्त है; [देशकाल के घेरे से पार है। इसकी उपासना करने वाले का जीवन भी सर्वश्रेष्ठ हो जाता है जो भगवद्भक्त भगवान् के नाम को ऐसा उत्तम जानता हुआ, सर्वश्रेष्ठ उद्गीथ को, परमेश्वर की आराधना करता है वह निश्चय सर्वश्रेष्ठ लोकों को जीत लेता है। उसका धाम परधाम हो जाता है।

त ँ्हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

शुनक ऋषि का पुत्र अतिधन्वा उदरशाण्डिल्य को वह यह उद्गीथ का वर्णन कर बोला—जब तक] तेरी सन्तति में पुत्र पुत्रियां इस उद्गीथ को जानते रहेंगे, तब तक इस लोक में इन अन्य जनों से–भक्तिहीन मनुष्यों से–उनका सर्वश्रेष्ठ जीवन होगा।

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति स य एतमेवं विद्वानुपास्ते

परोवरीय एव हास्यास्मिंल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिंल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

वैसा ही उसकी सन्तति का उस स्वर्ग लोक में उत्तम लोक होगा। वह जो इस ब्रह्म को जानता हुआ आराधना करता है, उसका भी इस लोक में उत्तम ही जीवन होजाता है। वैसे ही उस ऊंचे धाम में उसका ऊंचा धाम होता है।

नवमो खण्ड समाप्तः ॥

दसवां खण्ड ।

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोपस्तिर्ह चाक्रायणः इभ्यग्रामे प्राद्रणक उवास ॥१॥

एक बार ऐसा हुआ कि चक्र नाम ऋषि का पोता उषस्ति, निर्धन अवस्था में प्राप्त, चलने में समर्थ अपनी युवति भार्या के साथ मकड़ी से नष्ट कुरुदेश में एक हाथियों के ग्राम में जाबसा।

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे । तं होवाच । नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥२॥

उस उषस्ति ने वहां उबड़े हुए उड़द खाते हुए एक हाथी-वान् से भिक्षा मांगी। वह उससे बोला—इस समय जो ये उड़द मेरे वस्त्र में रक्खे हुए हैं; जिनमें से मैं खारहा हूँ इनसे अतिरिक्त मेरे पास नहीं है।

एतेषां मे देहीति होवाच । तानस्मै प्रददौ । हन्तानुपानमिति । उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच ॥३॥

उपस्ति ने कहा इन्हीं में से मुझे देदो उस हस्तिवान् ने उस को वे उड़द दे दिये । फिर कहा—अच्छा जल लो । उषस्ति बोला यह जल तेरा जूठा है ।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमां न खादन्निति होवाच कामो मउ दपानमिति ॥४॥

ऋषि का वचन सुनकर हाथिवान् ने कहा—क्या उड़द जूठे नहीं हैं ? उपस्ति ने उत्तर दिया—इन उड़दों को न खाकर मैं नहीं जी सकूंगा । परन्तु जलपान तो मुझे सर्वत्र है ।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥५॥

उपस्ति उड़दों को खाकर बचे हुओं को भार्या के लिये ले आया । वह उसके आने से पहले ही अच्छी भिक्षा खा चुकी थी । उसने पति से वे उड़द लेकर रख दिये ।

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राꣳ राजासौ यक्ष्यते समा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥६॥

वह उपस्ति सवेरे जाग कर भार्या को बोला—यदि कुछ भी अन्न का टुकड़ा पाऊँ तो धनमात्रा भी पा सकूंगा । यह समीप का राजा यज्ञ करने वाला है । वह मुझको सारे ऋत्विक् कर्मों के लिए वरेगा, मुझे मुख्य ऋत्विक् नियत करेगा ।

तं जायोवाच । हन्त पत इम एव कुल्माषा इति । तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय ॥ ७ ॥

पति को क्षुधातुर देख कर उसे वह बोली—अच्छा पति! और कुछ है नहीं ये उड़द हैं। इन्हें ग्रहण कीजिये। वह उन को खाकर उस विस्तृत महायज्ञ को गया।

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश, स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

वहाँ उद्गाताओं के विशाल स्तुति के स्थान में स्तुति करते हुओं के समीप वह बैठ गया। उस समय वह ऋत्विक् से बोला।

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥९॥

हे प्रस्तोता! जो देवता स्तुति में प्राप्त है; जिसकी स्तुति हो रही है, यदि उसको न जान कर स्तुति करेगा तो तेरा सिर गिर जायगा।

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥१०॥ एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥११॥

इसी ही प्रकार वह उद्गाता को बोला—हे उद्गाता, जो देवता, भगवान् उद्गीथ में प्राप्त है यदि उसको न जान कर स्तोम

गायगा तो तेरा सिर गिर जायगा । इसी प्रकार उपस्ति प्रतिहर्त्ता को बोला—हे विघ्न विनाशक ! जो देवता प्रतिहार में प्राप्त है यदि उसे न जान कर प्रतिहार करेगा तो तेरा सिर गिर जायगा । यह सुनकर वे अपने-अपने कर्मों से हट गये और मौन होकर बैठ गये ।

दशमो खण्डः समाप्तः

ग्यारहवां खण्ड

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युपस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥१॥

तब इसको यजमान ने कहा—मैं आपको जानना चाहता हूँ । वह बोला—मैं उपस्ति चाक्रायण हूँ ।

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैशिषं भगवतो वा अहमवित्त्यान्यानवृषि ॥२॥ भगवा ँ स्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच ॥३॥

वह यजमान बोला—मैंने आपको इन सारे ऋत्विक् कर्मों के लिए ढूँढा, परन्तु मैंने आपको न पाकर दूसरों को वरा । अब आप ही मेरे सारे ऋत्विज् कर्मों के लिए हैं । उपस्ति ने तथास्तु करके कहा—फिर तब ये ही ऋत्विज् मेरे चलाये हुए स्तुति करें ।

तू जितना धन उनको देवे उतना ही मुझे दे । यजमान ने कहा—तथास्तु ।

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद । प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वात्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥

तदन्तर इस उपस्ति के पास प्रस्तोता आकर बैठा और बोला—आपने मुझे कहा था । हे प्रस्तोता, जो देवता स्तुति में प्राप्त है, यदि उसे न जानकर स्तुति करेगा तो तेरा सिर गिर जायगा । सो वह कौनसा देवता है ।

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥५॥

उपस्ति ने कहा वह स्तुति का देवता प्राण है, जगत् का जीवन भगवान् है । सारे प्राणी उसी महाप्राण में ही सर्वथा प्रवेश करते हैं । उसी महाप्राण से उत्पन्न होते हैं । वह भगवान् देवता स्तुति में प्राप्त है । उसको यदि न जानकर तू स्तुति करता तो तेरा सिर गिर जाता; मेरा कहने का यही तात्पर्य है ।

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता, तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥६॥ आदित्य इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति । सैषा देवतो-

द्गीथमन्वायत्ता । तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत् ।
तथोक्तस्य मयेति ॥ ७ ॥

जब उषस्ति के पास, उद्गाता ने आकर पूछा तो उसने कहा—उद्गीथ में प्रोक्त देवता आदित्य है भगवान् का परम प्रकाशमय धाम है । सारे ये प्राणी सब से ऊंचे रहने वाले 'आदित्य को गाते हैं ।

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥८॥ अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥९॥

प्रतिहर्ता को उसने कहा—प्रतिहार का देवता अन्न है । सारे यह प्राणी अन्न को लेते हुए ही जीते हैं ।

एकादशो खण्ड समाप्तः ॥

बारहवां खण्ड

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥ १ ॥

इसके आगे शौव उद्गीथ का वर्णन होगा । वह बक दाल्भ्य और मित्रा का पुत्र ग्लाव स्वाध्याय के लिए एकान्त स्थान में गया ।

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव । तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

उसके समीप श्वेत, श्व नामक गायक मनुष्य प्रकट हुआ । दूसरे गायक उसके पास आकर बोले—हमारे लिये आप अन्नकी प्रार्थना करें । हम क्षुधातुर हैं ।

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयायेति । तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार ॥ ३ ॥ ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः संरब्धाः सर्पन्तीति, एवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः ॥ ४ ॥

उनको वह श्वेत गायक बोला—यहाँ ही मेरे पास सवेरे आइये । तब वह बक दाल्भ्य अथवा ग्लाव मैत्रेय उनकी प्रतिक्षा करने लगा । वे गायक जैसे स्तुतिस्थान को, बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तुति करते हुए, इकट्ठे उद्गाता आते हैं ऐसे आये वे बैठकर हिङ्कार गान करने लगे ।

ओ३मदा३मों३पिबा३मो३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता३न्नमिहा२हरदन्नपते१न्नमिहाहरा२हरो३मिति ॥५॥

परमेश्वर की कृपा से हम अन्न खाते हैं, जल को पीते हैं । देव, वरुण, प्रजापति, सविता हमारे लिए अन्न यहाँ लाये । अन्न के स्वामिन् ! अन्न यहाँ ला ।

द्वादशो खण्ड समाप्तः ॥

तेरहवां खण्ड ।

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकार आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥१॥

सामगान में स्वरों को कोमल बनाने के लिये जो अक्षर मन्त्र में मिला कर गाये जाते हैं उनकी सार्थकता वर्णन की जाती है। निश्चय यह पृथिवी लोक हाउकार है; इस से पृथिवी लोक समझना चाहिये। वायु, हाइकार से, चन्द्रमा अथकार से, आत्मा इहकार अग्नि ईकार से जानना चाहिये।

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥२॥

सूर्य का ऊकार स्तोभ है, आह्वान का एकार, विश्वदेवों का औहोयिकार, प्रजापति का हिंकार, प्राण का स्वर, अन्न का या वाणी का विराट् स्तोभ है।

अनिरुक्तस्त्रयोदशःस्तोभः संचरो हुंकारः ॥ ३ ॥

तेरहवाँ स्तोभ अनिर्वचनीय है; उसको किसी एक के साथ जोड़ा नहीं जाता। वह अन्य से सम्बन्ध रखने वाला है। विशेष सामगान में गाया जाता है। वह हुँकार है।

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति। य एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेद उपनिषदं वेद इति ॥ ४ ॥

जो वाणी का दूध-सार-है उस दूध को वाणी स्वयं इस साम गाने वाले उपासक के लिए, दोहती है। वह उपासक अन्न-

वान् और अन्न का भोक्ता होजाता है। जो इस सामसम्बन्धी उपनिषद् को ऐसे जानता है ।

पहला प्रपाठक तेरहवां खण्ड समाप्तः ।

प्रपाठक दूसरा । पहला खण्ड ।

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳसाधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥१॥

निश्चय से सारे साम की उपासना श्रेष्ठ है। निश्चय से जो उत्तम है वह साम, कहा जाता है। और जो अश्रेष्ठ है वह असाम कहा जाता है। उत्तम उच्चारण और गान का नाम ही साम है।

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादितिसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥२॥

उस साधु असाधु विचार में और भी, लौकिकजन भी लोक व्यवहार में ऐसा कहते हैं। वह साम से इसको प्राप्त हुआ, इसके पास आया; श्रेष्ठता से इसके पास आया; यह ही तब कहते हैं। असाम से इसके पास आया, असाधुता से असभ्यता से इस के पास आया, यह ही तब कहते हैं। लोकव्यवहार में भी साम शब्द साधु के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति, साधु बतेत्येव तदाहुः। असाम नो बतेति यदसाधु भवति, असाधु बतेत्येवं तदाहुः ॥ ३ ॥

तथा और भी जन व्यवहार में कहते हैं। जो किसी का साधु-शुभ-होता है तो प्रसन्नता में हमारा साम हुआ है, साधु हुआ है, यह ही तब कहते हैं। जो असाधु-अशुभ-होता है तो हमारा असाम हुआ है, असाधु हुआ है यह ही तब कहते हैं। शुभकर्म तथा शुभप्राप्ति का नाम भी साम तथा साधु है।

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनँ साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥४॥

जो इस साम महिमा को ऐसे जानता हुआ साधु साम एक है ऐसे उपासना करता है; साम को श्रेष्ठ, शुभ, मंगल मान कर उपासना करता है उसको शीघ्र ही, जो साधु-श्रेष्ठ-कर्म हैं तथा धर्म हैं प्राप्त होते हैं और सारे साधुभाव और धर्म उसके पास झुक जाते हैं। वह उत्तम बन जाता है।

प्रथम खण्ड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड

लोकेषु पञ्चविधँसामोपासीत पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥१॥

लोकों में पांच प्रकार से साम की उपासना करे। पृथिवी में हिंकार, अग्नि में प्रस्ताव, अन्तरिक्ष में उद्गीथ, आदित्य में प्रतिहार और द्युलोक में निधन की उपासना। यह ऊपर के लोकों में विचारे। सब उद्गाता जिस साम को गाते हैं उसे हिंकार कहते

हैं। प्रस्तोता जिसे गाता है उसे प्रस्ताव। उद्गाता जिसे गाता है उसे उद्गीथ। प्रतिहर्त्ता जिसे गाता है उसे प्रतिहार और सारे मिलकर जिस साम को गाते हैं उसे निधन कहते हैं।

अथावृत्तेषु। द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

अब आवृत्तों में, ऊपर से नीचे तक लोकों में पांच प्रकार का साम चिन्तन करे; सब लोकों में साम गूंजता ही माने।

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च, य एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ ३ ॥

जो इस सामोपासना को इस प्रकार जानता हुआ, लोको में पाँच प्रकार का साम चिन्तन करता है, उसके लिए ऊपर मुखी और अधोमुखी सारे लोक उपस्थित होजाते हैं।

द्वितीय खंड समाप्तः॥

तीसरा खण्ड

वृष्टौ पञ्चविधꣳसामोपासीत पुरो वातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावः. वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥१॥ उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २ ॥

वृष्टि में पांच प्रकार का साम चिन्तन करे। वर्षा से पहली पवन को हिंकार जाने। जो मेघ उत्पन्न होजाता है उसे प्रस्ताव,

जो बरसता है वह उद्गीथ, जो चमकता तथा गर्जता है वह प्रतिहार और जो पानी पड़ना बन्द होने लगता है वह निधन समझे। वर्षा में भगवान् की महिमा जाने। उपासक यह समझे कि परमेश्वर की सृष्टि में, सर्वत्र साम गूंज रहा है। जो उपासक इस महिमा को ऐसे जानकर वृष्टि में पांच प्रकार का साम चिन्तन करता है भगवान् उस पर आनन्दवर्षा बरसाता है।

तृतीय खण्ड समाप्तः ॥

चौथा खण्ड

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत। मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावः, याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

सारे जलों में पाँच प्रकार का साम चिन्तन करे। मेघ का दौड़ना हिंकार, बरसना प्रस्ताव, जो पानी पूर्व को बहते हैं वह उद्गीथ, जो पश्चिम को बहते हैं वह प्रतिहार और समुद्र निधन जाने।

न हाप्सु प्रैति, अप्सुमान् भवति, य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ २ ॥

जो उपासक सारे जलों में भगवान् की महिमाको जानता। वह जलों में नहीं मरता, नहीं डूबता और जलों वाला होजाता है।

चतुर्थ खण्ड समाप्तः ॥

पांचवां खण्ड

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत । वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥ कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान् भवति, एतदेवं विद्वानृतुषु पंचविध सामोपास्ते ॥ २ ॥

ऋतुओं में भगवान् की महिमा जाने । सब परिवर्त्तनों में सामगान होता हुआ समझे ।

॥ पञ्चम खण्ड समाप्तः ॥

छठा खण्ड ।

पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥१॥ भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥२॥

पशुओं में पाँच प्रकार का साम विचारे । बकरियें हिंकार, भेंड़ें प्रस्ताव, गौएँ उद्गीथ, घोड़े प्रतिहार और पुरुष निधन समझे । सब जीवों में भगवान् की महिमा होती देखे ।

षष्ठम खण्ड समाप्तः ॥

सातवां खण्ड

प्राणेषु पंचविधं परोवरीयः सामोपासीत । प्राणो हिंकारो

वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः, श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयांसि वा एतानि ॥ १ ॥

प्राणों में, इन्द्रियों में पाँच प्रकार का उत्तरोत्तर श्रेष्ठ साम विचारे। प्राण हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, नेत्र उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है। निश्चय ये प्राण एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं।

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकांजयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पंचविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

जो उपासक इस साम उपासना को इस प्रकार जान कर प्राणों में पाँच प्रकार का श्रेष्ठतम साम विचारता है, उसका जीवन श्रेष्ठतम हो जाता है। वह श्रेष्ठतम लोकों को पाता है। यह पाँच प्रकार के साम का विचार है। इस सारे वर्णन का सार यह है कि सामोपासक सारी सृष्टि में साम की ध्वनि समझे। ऐसी भावना करे कि उसे सब वस्तुओं में भगवान् की महिमा दिखाई दें।

सप्तम खण्ड समाप्तः ॥

आठवां खण्ड।

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधꣳ सामोपासीत यत्किंच वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥१॥ यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो

यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥२॥

अब सात प्रकार की सामोपासना का वर्णन किया जाता है। वाणी में सात प्रकार का साम विचारे जो कुछ वाणी का हुँ है वह हिंकार है। जो प्र है वह प्रस्ताव और जो आ है वह आदि है। जो उत् है वह उद्गीथ है, जो प्रति है वह प्रतिहार है, जो उप है वह उपद्रव है और जो नि है वह निधन है।

यह वाणी का साम वाणी की शक्ति का सूचक है। हुम् आदि शब्दों से ही वाणी प्रबल बनती है। इनमें साम लायें; कोमलता तथा रस भरे। और भगवान् का नाम गाकर वाणी का साम सार्थक करे।

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधं सामोपास्ते ॥ ३ ॥

जो उपासक इस सामोपासना को ऐसे विचारता है उसके लिए वाणी अपने दूध-सार-को आप दोहती है। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता हो जाता है।

अष्टम खन्ड समाप्तः ॥

नवां खण्ड

अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत । सर्वदा समस्तेन साम, मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥१॥

अब निश्चय से इस सूर्य्य सम्बन्धी, सात प्रकार के साम को विचारे। वह सूर्य्य सब प्राणियों में सर्वदा सम है, इससे साम

है। प्रत्येक मनुष्य कहता है—मेरे लिए सब प्रकार से सम है; एकसा प्रकाश देता है। इस कारण सूर्य्य साम है।

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारः। तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति। हिंकार भाजिनो ह्येतस्यसाम्नः॥ २॥

उस सूर्य्य में ये सारे प्राणी अनुगत हैं, उसके आश्रय में जीवित हैं, ऐसा जाने। उस सूर्य्य का जो उदय से पहला प्रकाश है वह हिंकार है। सो इसके पशु आश्रित हैं। इस कारण ऊषाकाल में वे हिंकार करते हैं, बोलने लग जाते हैं। पशु इस साम के हिंकार भजन शील हैं।

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्ताव तदस्य मनुष्या अन्वायत्ताः। तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशंसाकामाः। प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ३॥

उसके अनन्तर जो सूर्य के प्रथम उदय का समय है वह प्रस्ताव—स्तुति—है। उसके मनुष्य अनुगत हैं। इस कारण उस समय वे भगवान् की स्तुति की कामना वाले और उसकी प्रशंसा की कामना वाले होते हैं। इस साम के ये मनुष्य स्तुति भजनशील हैं।

अथ यत्संगववेलायां स आदिः। तदस्य वयांस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्ति। आदिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः॥ ४॥

और जो गौएं दुहने का समय है वह आदि है, दिन का प्रथम काल है। उसके अनुगत पक्षी हैं। इस कारण वे आकाश में अपने निराश्रय परों को लेकर अपने आप को उड़ाते हैं। वे इस साम के आदि भजनशील हैं।

अथ यत्संप्रति मध्यन्दिने स उद्गीथः तदस्य देवा अन्वायत्ताः, तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानाम् । उद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

और जो अब दोपहर में मुहूर्त्त होता है वह उद्गीथ है, भगवान् की उपासना साम है। उसके अनुगत देव हैं। इस कारण वे, परमेश्वर के पुत्रों में भक्तों में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे इस साम के उद्गीथ भक्ति वाले हैं।

अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारः । तदस्य गर्भा अन्वायत्ताः । तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते । प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नाः ॥ ६ ॥

और जो दोपहर से ऊपर और पिछले पहर से पूर्व का समय है वह प्रतिहार साम है। इसके आश्रित गर्भ है। इस कारण वे धारण किये हुए नहीं गिरते; प्रतिहार सामगान से गर्भपात नहीं होते वे इस साम के प्रतिहार भक्तिशील हैं।

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवः । तदस्यारण्या अन्वायत्ताः । तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षं श्वभ्रमित्युपद्रवन्ति । उपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

उसके अन्तर जो दिन के पिछले पहर से ऊपर और सूर्यास्त से पहिले का सूर्यप्रकाश है वह उपद्रव साम है । उसके अनुगत जंगली जीव हैं । इस कारण वे पुरुष को देख कर, बन और बिल को दौड़ जाते हैं । वे इस साम के उपद्रव भजनशील हैं, वे भागने वाले जीव हैं ।

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनम् । तदस्य पितरोऽन्वायत्ताः, तस्मात्तान्निदधति । निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्नः । एवं खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते ॥८॥

तत्पश्चात् जो प्रथम सूर्यास्त का प्रकाश है, सन्ध्याराग है वह निधन साम है । उसके आश्रित पितर हैं । इस कारण, वह निधन गाया हुआ पितरों को धारण करता है । वे इस साम के निधन भक्ति वाले हैं । इस प्रकार, निश्चय से इस आदित्य सम्बन्धी सात प्रकार के साम को विचारे । सूर्य्य के प्रकाशों में उपासक साम का अलाप होता ही समझे । यही जाने कि सूर्योदय से अस्त पर्यन्त सारे दिन में प्रकृति साम ही गारही है; भगवान् की महिमा का ही वर्णन करती है ।

नवम खण्ड समाप्तः ॥

दसवां खण्ड

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधं सामोपासीत । हिंकार इति त्र्यक्षरं, प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥१॥

अब निश्चय से आत्मा के अनुकूल आत्मा से जाना हुआ और अपने में बराबर मृत्यु को लांघने वाला, सात प्रकार का साम विचारे। हिंकार यह तीन अक्षर हैं और प्रस्ताव भी तीन अक्षर हैं वे दोनों सम हैं; तुल्य हैं।

आदिरिति द्व्यक्षरं; प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥२॥

आदि नामक साम यह दो अक्षर हैं, प्रतिहार यह चार अक्षर हैं। उन चार से यहां आदि में एक अक्षर मिला दें तो वे सम हैं।

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं, त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते; त्र्यक्षरं तत्समम् ॥३॥

उद्गीथ यह तीन अक्षरवान् है, उपद्रव यह चार अक्षरों वाला है। तीन तीन अक्षरों से तो दोनों सम हैं। एक अक्षर रह जाता है। तीन अक्षर वह सम है।

निधनमिति त्र्यक्षरम्, तत्सममेव भवति। तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥४॥

निधन यह त्रय अक्षर है। वह सम ही है हिंकार, प्रस्ताव, आदि, प्रतिहार, उद्गीथ उपद्रव और निधन ये सात प्रकार के साम हैं। सातों के तीन तीन अक्षर हैं। एक अवशेष अक्षर मिलाकर वे ये बाईस अक्षर हैं।

एकविंशत्यादित्यमाप्नोति। एकविंशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविंशेन परमादित्याज्जयति; तन्नाकं तद्विशोकम् ॥५॥

इक्कीस अक्षरों से आदित्य को उपासक प्राप्त करता है, तेजोमय धाम को प्राप्त होता है। निश्चय से यहां से यह आदित्य इक्कीसवां है। इक्कीसवां धाम तथा लोक है। बाईस अक्षर से आदित्य से भी आगे परमप्रकाश को जीत लेता है। वह परमप्रकाश दुःख रहित है और वह शोक रहित है।

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधं सामोपास्ते सप्तविधं सामोपास्ते ॥६॥

जो उपासक इस उपासना को इस प्रकार जानता हुआ आत्मसंमित और मृत्यु को लांघने वाला सात प्रकार के साम की उपासना करता है वह इस लोक में सूर्य्य लोक की उत्कृष्ट विजय प्राप्त करता है। उसकी आदित्य विजय से भी ऊंची जय हो जाती है।

दसम खन्ड समाप्तः ॥

ग्यारहवां खण्ड

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥

मन हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, आंख उद्गीथ है' श्रोत्र प्रतिहार है और प्राण निधन है। यह गायत्र नामक साम प्राणों में, इन्द्रियों से पिरोया हुआ है।

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥ ॥

जो उपासक इस प्रकार इस गायत्र साम को प्राणों में प्रोत जानता है, प्राणों से आराधता है वह भक्त प्राणों वाला शक्तिशाली हो जाता है। वह पूर्ण आयु भोगता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, प्रजा और पशुओं से बड़ा बन जाता है, कीर्त्ति से महान् होता है। ऐसा उपासक महामना उदारचेता होवे। यह व्रत है।

एकादशो खण्ड समाप्तः ॥

बारहवां खण्डः ॥

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गरा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनꣳसꣳशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥ १ ॥

यज्ञ भी साम है यह दर्शाते हुए ऋषि कहता है-जो अरणी से अग्नि मन्थन करना है वह हिंकार है जो धूंआ उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है, जो अग्नि जलती है वह उद्गीथ है, जो अंगारे हो जाते हैं वह प्रतिहार हैं, जो अग्नि का शान्त होना है वह निधन है जो विशेष शान्त होना है वह निधन है। यह रथन्तरसाम अग्नि में प्रोत है।

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यंङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

जो उपासक ऐसे इस रथन्तर साम को अग्नि में, यज्ञ में प्रोत जानता है; यज्ञ की विधि में भगवान् का ही ध्यान करता है वह ब्रह्मतेज वाला और अन्न का भोक्ता होजाता है। ऐसे उपासक का यह व्रत है कि अग्नि सम्मुख न जूठा पानी फैंके और न थूके।

द्वादश खण्ड समाप्तः॥

तेरहवां खण्ड॥

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः। स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः, प्रतिस्त्रिया सह शेते स प्रतिहारः। कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनम्। एतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्॥१॥

ऊपर के वामदेव्य साम का यह ही तात्पर्य जानना चाहिए कि स्त्री पुरुष का संसर्ग भी साम ही है। पातिव्रत तथा पत्निव्रत धर्म भी एक प्रकार का शुभ कर्म है।

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते, सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति। महाप्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्॥२॥

जो सदाचारी गृहस्थी ऐसे इस वामदेव्य साम को दम्पतिव्रत में पिरोया हुआ जानता है वह जोड़ीवाला होता है; उसका भार्या से वियोग नहीं होता। ऐसे व्रती स्त्री पुरुष विधवा तथा विधुर नहीं होते। वह जन्मान्तर में विवाहित माता पिता से ही

उत्पन्न होता है। ऐसे श्रेष्ठजन का यह व्रत है कि किसी भी पर स्त्री को न अपहरण करे; वह कदापि व्यभिचारी न हो।

त्रयोदश खण्ड समाप्तः ॥

चौदहवां खण्ड ।

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ १ ॥ स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

उदय होता हुआ सूर्य हिंकार साम है, उदय होने पर प्रस्ताव, मध्याह्न में उद्गीथ, पिछले प्रहर प्रतिहार और अस्तकाल में निधन है। यह साम महान् आदित्य में प्रोत है। जो उपासक ऐसे इसको जानता है वह इस उपासना से तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होजाता है। ऐसे उपासक का यह व्रत है कि तपते हुए सूर्य की निन्दा न करे।

चतुर्दश खण्ड समाप्तः ॥

पन्द्रहवां खण्ड ।

अभ्राणि संप्लवते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति

तन्निधनम् । एतद्वैरूपं परजन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥ स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद, विरूपांश्चसुरूपांश्च पशूनवरुन्धे; सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति । महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या । वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

यह वैरूप साम पर्जन्य में प्रोत है। इसको जो जानता है वह अनेक रूप और सुरूप पशुओं को पाता है। ऐसे उपासक का यह व्रत है कि बरसते बादल की निन्दा न करे।

पञ्चदश खण्ड समाप्तः ॥

सोलहवां खण्ड।

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत् प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् । एतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥१॥ स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद, विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति । महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या । ऋतुं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

ऋतुओं में जो साम है वह वैराज है जो इसे जानता है वह प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मतेज से सुशोभित रहता है। उपासक ऋतुं की निन्दा न करे उनमें भगवान् की महिमा समझे और देखे।

षष्ठदश खण्ड समाप्तः ॥

सत्रहवां खण्ड

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १॥ स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

यह शाकरी नामक साम लोकों में प्रोत है जो इसे जानता है, प्रकृति में साम गीत गूंजता समझता है वह लोकवाला हो जाता है। उसका उत्तम जन्म होता है। ऐसा जन लोकों की निन्दा न करे।

सप्तदश खन्ड समाप्तः ॥

अठारहवां खण्ड ।

अजा हिंकारोऽव्वयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वा प्रतिहारः पुरुषो निधनम् । एता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥१॥ स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद, पशुमान् भवति, ज्योग् जीवति । महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या । पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

यह रेवती नामक साम पशुओं में प्रोत है। ऐसा जानने वाला पशुओं वाला होजाता है। ऐसा उपासक पशुओं की निन्दा न करे। नाना योनियों में भगवान् की महिमा देखे।

अष्टदश खन्ड समाप्तः ॥

उन्नीसवां खण्ड।

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मा॑ꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमंगेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव, मांस उद्गीथ, अस्थि प्रतिहार और मज्जा निधन है। यह यज्ञायज्ञीय साम देह के अवयवों में प्रोत समझना चाहिए।

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमंगेषु प्रोतं वेदांगी भवति नांगेन विहूर्च्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजयापशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥ २ ॥

जो उपासक इस यज्ञायज्ञीय साम को अवयवों में प्रोत जानता है वह अंगों वाला हो जाता है। वह अंग से टेढा मेढा नहीं होता। ऐसा जन वर्ष भर मज्जा न खाय, वा मज्ञा न खाय यह व्रत है।

उन्नीसवां खन्ड समाप्तः॥

बीसवां खण्ड।

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम ॥ १ ॥ स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २

जो उपासक इस राजन नामक साम को जानता है वह इन्ही देवताओं की समान लोकता को, समान समृद्धि को तथा संमिलाप को पाता है ।

बीसवां खन्ड समाप्तः ॥

इक्कीसवां खण्ड ।

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायु-रादित्यः स उद्गीथ नक्षत्राणि वयांꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाःपितरस्तन्निधनमेतत्साम तत् सर्वस्मिन्प्रोतम्॥१॥ स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वꣳह भवति ॥ २ ॥

तीनों वेदों की विद्या हिंकार है । यह तीन लोक वह प्रस्ताव है । अग्नि वायु सूर्य वह उद्गीथ है । नक्षत्र पक्षी और सूर्य की किरणें वह प्रतिहार है । सर्प गन्धर्व और पितर वह निधन है । यह साम सब में प्रोत है । जो ऐसा जानता है, वह सब कुछ हो जाता है; उसकी कामना पूर्ण हो जाती है ।

तदेष श्लोकः ॥ यामिपञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

उस विषय में यह श्लोक है जो पाँच प्रकार का—हिंकार प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, और निधन, साम है तथा तीन प्रकार में वह कहा है उनसे बड़ा उत्कृष्ट दूसरा साम नहीं है ।

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳ सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति सर्व-मस्मीत्युपासीत तद्व्रतम् तद्व्रतम्॥ ४ ॥

जो उपासक पूर्वोक्त साम को जानता है वह सब सामों को जानता है, उसे साम का मर्म ज्ञात होजाता है । उसके लिए सारी दिशाएं बलि लाती हैं, उसको सर्वत्र सुख प्राप्त होता है ऐसा उपासक, मैं पूर्ण हूँ, ऐसी भावना करे । यह व्रत है, यह व्रत है ।

एकोविंश खण्ड समाप्तः ॥

बाईसवां खण्ड ।

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेकं वर्जयेत् ॥ १ ॥

मैं साम के नाद को अंगीकार करता हूँ, वह पशुओं के स्वरों पर है । अग्नि का उद्गीथ साम है, वह स्पष्ट नहीं है । प्रजापति का स्पष्ट है । सोम का कोमल तथा स्वादु साम है । वायु का रसीला है । इन्द्र का साम बलाढ्य है । बृहस्पति का क्रौंच पक्षी के स्वर सदृश है । वरुण का कर्कश है उन सारे ही सामों को गाये परन्तु एक वरुण देवता के मन्त्रों को न गाये । वे साम में नहीं गाये जाते । अग्नि आदि देवताओं के जो सूक्त हैं उन्हीं के सामों का यहाँ वर्णन है ।

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥२॥

साम को गाने वाला भक्त जब फल मांगने लगे तो यह विचारे कि देवों के लिये मैं मोक्ष की प्रार्थना करूँ । वह उपासक पितरों के लिये स्वधा की प्रार्थना करे । मनुष्यों के लिये आशा की, पशुओं के लिये तृण जल की और यजमान के लिये स्वर्ग लोक की प्रार्थना करे । अपने लिए अन्न ही माँगू यह ही विचारे। ऊपर के सब फलों को मन से बिचार कर प्रमादरहित होकर स्तुति करे ।

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रꣳशरणं प्रपन्नो अभूवं स त्वा प्रतिवक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ३ ॥

सारे अ, इ आदि स्वर इन्द्र के आत्मारूप हैं: भगवान् की प्रेरणा से मनुष्य को स्वरज्ञान हुआ है । सारे श, ष, स, ह ऊष्मा वर्ण परमेश्वर के आत्मा के समान हैं, सारे क, ख आदि स्पर्श वर्ण सबके नियन्ता के आत्मरूप हैं । जो साम गा रहा है उसे यदि कोई विदूषक स्वरों में उलाहना दे, तो वह अपने ज्ञान का मिथ्या अभिमान न करके उसे कहे, मैं तो इन्द्र की शरण में प्राप्त था। वह तुझे ठीक स्वरोच्चारण बतायेगा । पूर्ण ज्ञान भगवान् को है। मैं तो उसके ध्यान में मग्न था ।

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत, प्रजापतिं शरणं प्रपन्नोऽभूवम्, स त्वा प्रतिपेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् । अथ यद्येनं स्पर्शेषूपालभेत, मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवम्, स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्॥४॥

और यदि कोई स्वरसंगीत का अभिमानी इसे ऊष्म वर्णों में उलाहना दे तो भक्त उसे कहे मैं तो परमेश्वर की शरण में प्राप्त था; अर्पित था । वह प्रभु तुझे पीस देगा, तेरे अभिमान के स्वरूप को चूर्ण कर देगा । और यदि कोई इसे स्पर्श वर्णों में उलाहना दे तो वह उसे कहे मैं तो यमराज की शरण में अर्पित था; उसके भजन में मग्न था । वह तुझे भस्म कर देगा; तेरे अहङ्कार को दग्ध कर डालेगा । उपासक को शुद्धाशुद्ध का सारा विचार छोड़ कर भावना सहित उपासना करनी चाहिये ।

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति । सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृत्ता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं ददानीति । सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥५॥

सारे स्वर ऊँची ध्वनि वाले और बलवन्त कहे जाने चाहियें । मैं इनके शुद्धोच्चारण का अभिमान न करके इन्द्र में इन का बल भेंट करता हूँ । सारे ऊष्म वर्ण दूसरे वर्णों से ग्रस्त नहीं है, स्पष्ट हैं, विवृत हैं, खुले हुए हैं ऐसा कहना चाहिये, उनके ज्ञान को मैं प्रजापति के आत्मा को प्रदान करता हूँ । सारे स्पर्शवर्ण थोड़े से भी नहीं छुपे हुए कहे जाने चाहिये । उनके उच्चारणज्ञान का श्रेयस् मैं यमराज के आत्मा को भेंट करूँ । उपासक को अपने ज्ञान का अभिमान नहीं करना चाहिये ।

द्विविंश खन्ड समाप्तः ॥

तेईसवां खन्ड ।

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासो तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति ॥ १ ॥

धर्म के तीन भाग हैं । यज्ञ, अध्ययन, दान यह प्रथम भाग है । तप ही दूसरा भाग है । । अचार्यकुल में अपने आपको अत्यन्त क्लेश देता हुआ, ब्रह्मचारी आचार्य कुलवासी तीसरा भाग है; ब्रह्मचर्य पालन तीसरा स्कन्ध है । सारे ये स्कन्ध पुण्यलोकप्रद है, परन्तु जो मनुष्य ब्रह्म में लीन रहता है, वह अमृत को पा लेता है ।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ २ ॥

परमेश्वर ने मनुष्यों को ज्ञान दिया, उन ज्ञानियों से वेद विद्या प्रकट हुई । उसको ईश्वर ने मथन किया । उस मथन की गई विद्या से ये भूर्भुवः स्वः तीन अक्षर प्रकट हुए ।

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओ३मूकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्योंकार एवेदꣳ सर्वमोंकार एवेदꣳ सर्वम् ॥ ३ ॥

फिर परमेश्वर ने उन तीन अक्षरों को मथन किया । उन

मथन किये किये हुये अक्षरों से ओंकार प्रकट हुआ। सो जैसे पर्णनाल से सारे पत्ते बँधे हुए होते हैं इसी प्रकार ओंकार से सारी वाणी बँध रही है। ओंकार यह ही सार है।

तेईसवां खण्ड समाप्तः ॥

चौबीसवां खण्ड ।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति, यद्वसूनां प्रातःसवनम्, रुद्राणां मध्यंदिनंसवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीय सवनम् ॥ १ ॥

वेदवेत्ता ऋषि कहते हैं। जो प्रातःकाल का अग्नि होत्र है वह घरों का सुधारक है। जो मध्याह्न का यज्ञ है वह घोर तप करने वालों का भाग है। जो दोपहर के अनन्तर का यज्ञ है वह तीसरा सवन ज्ञानियों का तथा सारे देवों का भाग।

क्व तर्हि यजमानस्यलोक इति । स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥ २ ॥

तब यज्ञकर्त्ता यजमान का लोक कहाँ है ? उसे क्या फल मिलता है। वह यजमान वा होता जो उसे न जाने तो कैसे यज्ञ करे। और यदि फल को जानता हो, तो तभी यज्ञ करता है।

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदंमुख उपविश्य स वासवं सामाभिगायति ॥ ३ ॥

यजमान प्रातःकाल के पाठ के आरम्भ से पूर्व, गार्हपत्य अग्नि के पीछे, उत्तराभिमुख बैठकर वह वासव साम गाता है।

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳरा ३ ३ ३ ३ ३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३ १ १ १ इति ॥ ४ ॥

लोक के द्वार को खोल । हम तुझे राज्य के लिये देखें । यह मन्त्र यजमान पृथ्वी के राज्य के लिये जपें ।

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५ ॥ अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसव प्रातःसवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥६॥

भूमि के राज्य के लिए देश भक्त मंत्र जप करने के अनन्तर अग्निहोत्र करता है । पृथवी में रहने वाले और लोक में वसने वाले अर्थात् सर्वत्र विद्यमान परमेश्वर को नमस्कार । हे भगवन् ! मुझ यजमान के लिये लोक प्राप्त कर । यह ही पृथवी यजमान का लोक है जिसको मैं प्राप्त करता हूँ । इस आयु के पीछे भी अगले जन्म में इसी पृथिवी में मैं यजमान होऊँ । इन शब्दों के साथ स्वाहा कह कर कहे—सफलता के मार्ग की अर्गल को नाश कर । ऐसा कह कर खड़ा होवे उस समय उसको वसुलोग प्रातः सवन का आशीर्वाद देते हैं ।

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳ सामाभिगायति ॥७॥

लो३कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ जा यो ३ आ ३२१११ इति ॥८॥

मध्याह्न के यज्ञ कर्म के प्रारम्भ से पहिले, दक्षिणाग्नि कुण्ड पीछे, उत्तराभिमुख बैठकर वह यजमान रौद्र साम को गावे। हे परमेश्वर! लोक के वैराज्य के द्वार को खोल दे। हम देशभक्त तुझे वैराज्य के लिये देखें। तेरी कृपा से हमें वैराज्य प्राप्त हो। देशभक्त भूमि के यज्ञ में यह मन्त्र जपे।

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानस्य विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥९॥

मन्त्र जाप के पश्चात् यज्ञ करे। हवन में यह पाठ पढ़े—अन्तरिक्ष में रहनेवाली, लोक में रहने वाली वेगवती शक्ति को नमस्कार। हे देव! मुझ यजमान के लिये लोक प्राप्त कर। यह ही यजमान का लोक है, जिसको मैं प्राप्त होता हूँ।

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ संप्रयच्छन्ति॥१०॥

आयु से पीछे अगले जन्म में भी यजमान इसी लोक में यज्ञ करे; यह कहकर आहुति डाले। अर्गल को ईश्वर! दूर कर, ऐसा कहकर खड़ा हो जावे। उस यजमान का उस समय रुद्र मध्याह्न सवन प्रदान करते हैं।

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदंमुख उपविश्य स आदित्यꣳ स वैश्वदेवꣳ सामाभिगायति ॥११॥
लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳस्वरा ३३३३३ हु ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥१२॥

तीसरे सवन में आदित्य सम्बन्धी और वैश्वदेव सम्बन्धी साम गाये। मन्त्र में "स्वराज्याय" वाक्य जोड़कर उसका जप करे।

आदित्यमथ वैश्वलोकं लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳ साम्ना ३३३३३ हुं ३ आ ३३३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥१३॥

हे ईश्वर लोक के द्वार को खोल दे। हम तुझ आदित्य स्वरूप सब के देव को साम्राज्य के लिये देखें।

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥१४॥ एष वै यजमानस्य लोक एतास्मि अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपहतपरिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥१५॥ तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयं सवनं संप्रयच्छन्ति। एष ह यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥१६॥

राज्य वराज्य, स्वाराज्य और साम्राज्य इन चार प्रकार के राज्यों की प्रार्थना के चार मन्त्र हैं। इनके जाप के साथ हवन का भी विधान है। शुद्ध होकर एक सहस्र मन्त्र प्रतिप्रातः, दोपहर, सायं और अर्धरात्रि को जपे। साथ हवन भी करे। इससे अभ्यासी में वीरभाव तथा सफलता में कौशल भाव आ जाता है। यह ही इसका रहस्य है। वह यज्ञ की मात्रा को, मर्यादा को जानता है। जो इस प्रकार जानता है।

द्वितीय प्रपाठक चतुर्विंश खण्ड समाप्तः ॥

तृतीयप्रपाठक (पहला खण्ड)।

ओ३म् असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳ शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

आदित्योपासना का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है—निश्चय से यह सूर्य्य देवो का मधु है मोद की मधुर वस्तु है। उसका, द्यौ-आदित्यलोक-ही तिरछा वंश है, मधु-छत्ता लगने का स्थान है। अन्तरिक्ष मधुकोश है और किरणें उसके पुत्र हैं। इनद्वारा वह मधुसञ्चय करता है।

देव परोक्षप्रिय होते हैं; इस उपनिषद्वाक्यानुसार यहाँ प्रत्यक्ष में तो सूर्य्य कहते हैं परन्तु रहस्य में आदित्यवर्ण परमेश्वर से तात्पर्य है। इस सूर्य्य में भी उसी का तेज है।

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्य ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥

उस आदित्य की जो पूर्व दिशा की किरणें हैं वे ही इस की पूर्व दिशा की मधु नाड़ियाँ हैं। ऋचाएं ही मधुमक्खियाँ हैं, ऋग्वेद ही पुष्प है। वे अमृत जल वे ही ये ऋचाएं हैं। वेद के स्तोत्र ही अमृतरस हैं।

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ ३ ॥

उन मधुमक्खियों ने इस ऋग्वेदरूप पुष्प को तपाया,

उस तपे हुए से यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति और खाने योग्य अन्नरूप रस उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद से ये सब गुण वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳरूपम् ॥ ४ ॥

वह रस भलीभाँति निकला। झरकर वह आदित्य को सब ओर से आश्रित करके रहा। वह ही यह रस है जो यह सूर्य्य का लाल रूप है। जो प्रकाश दिखाई देता है वह ही वह रस है और वह रस भगवान् से सूर्य्य में आया है।

प्रथम खण्ड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यः। यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अब जो इस आदित्य की दक्षिण की किरणें हैं वे ही इस की दक्षिण की मधुनाड़ियाँ हैं यजुर्वेद के मन्त्र ही मधुमक्खियाँ हैं। यजुर्वेद ही पुष्प है। वे वेद की गीतियाँ अमृत जल हैं।

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥२॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳ रूपम् ॥ ३ ॥

वे ये मधुमक्खियाँ यजुर्वेद के स्तोत्र हैं; उन्होंने इस यजुर्वेद को तपाया। उससे यश, तेज आदि रस उत्पन्न हुआ। वह रस यह ही है जो सूर्य का शुक्ल रूप है।

द्वितीय खंड समाप्तः ॥

तीसरा खण्ड

अथ येऽस्य प्रत्यंचो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः। सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृताः आपः ॥१॥ तानि वा एतानि सामान्येतं सामवेदमभ्यतपन्। तस्याभि तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोजायत ॥२॥ तद्व्यक्षरत्। तदादित्यमभितोऽश्रयत् तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णं रूपम् ॥३॥

और जो सूर्य की पश्चिम ओर की किरणें हैं वे ही इसकी पश्चिम की मधुनाड़ियाँ हैं। साममन्त्र ही भ्रमरियाँ हैं और सामवेद पुष्प है। वे अमृत जल हैं।

तृतीय खन्ड समाप्तः ॥

चौथा खण्ड

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्यः अथर्वांगिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पम् ता अमृता आपः ॥१॥ ते वा एतेऽथर्वांगिरस एतदितिहासपुराणमभ्य-

तपन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजा-यत ॥२॥ तद्व्यक्षरत् । तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एत-द्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णं रूपम् ॥३॥

अब जो इसकी उत्तर की किरणें हैं वे ही इसकी उत्तर की मधुनाड़ियाँ हैं । अथर्ववेद के मन्त्र ही भ्रमरियाँ हैं । इतिहास पुराण पुष्प हैं । वे ही अमृतजल हैं । वे ये अथर्ववेद के मन्त्र इतिहासपुराण को भ्रमर बनकर चूसने लगे उसके तपने से यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति और खाने योग्य अन्नरूप रस उत्पन्न हुआ । वह झर कर सूर्य के सब ओर होगया। वह रस यह है जो सूर्य्य का परम कृष्ण रूप है । इस सूर्य्योपासना में रहस्य रूप से उस स्वरूप का भी संकेत है जो अभ्यासियों को आदित्यवर्ण अनुभव हुआ करता है । वही रस है, अमृत है और परम मधु है ।

चतुर्थ खन्ड समाप्तः ॥

पांचवां खण्ड

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यः गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अब जो इस आदित्य की ऊपर जाने वाली किरणें हैं वे ही इसकी ऊपर की मधुनाड़ियाँ हैं । गुप्त ही आदेश भ्रमरियाँ हैं; वे ही मन्त्रोपदेश मधु बनाने वाले हैं । परमेश्वर ही पुष्प है । वह ही अमृत जल है ।

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ २ ॥ तद्व्यक्षर-

तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

उन्हीं गुप्त उपदेशों ने ब्रह्म को तपाया। उससे यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति और खाद्य अन्न उत्पन्न हुआ। वह झर कर सूर्य के सब ओर होगया। वह रस यह है जो सूर्य्य के मध्य में एक तेजोमय चक्र चलायमान सा है। इसमें भी रहस्य से अध्यात्म सूर्य्य का संकेत है। ब्रह्मोपासना से ऐसे स्वरूपों के दर्शन होते हैं।

ते वा एते रसानां रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥४॥

वे ही यश तेज, ऐश्वर्य, शक्ति, अन्न और शुक्लादि दिव्य स्वरूप ये रसों के रस हैं। वेद ही रस हैं; उनके ये रस हैं, इस कारण ये रसों के रस हैं। वे ही ये स्वरूप अमृतों के अमृत हैं। वेद ही अमृत हैं उनके ये स्वरूप अमृत हैं। वेद के मन्त्रों की आराधना से सविता के इन स्वरूपों के दर्शन होते हैं।

पञ्चम खण्ड समाप्तः ॥

छठा खण्ड।

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वह जो प्रथम अमृत है, उसको वसु संज्ञा वाले देव अपने

अग्नि मुख से, ज्ञान से पान करते हैं । निश्चय से देव न खाते हैं न पीते हैं किन्तु इसी ही अमृत स्वरूप को देखकर तृप्त होजाते हैं। वे देव इसी ही स्वरूप में प्रवेश करते हैं, मग्न रहते हैं। और इसी स्वरूप से ऊपर जाते हैं।

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

वह जो इसी ही अमृत को जानता है वह वसुओं के साथ ही एक होकर ज्ञान के ही मुख से इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है वह जो ऐसा ज्ञानी है, इसी स्वरूप में प्रवेश करता है। और इसी रूप से उदय पाता है।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

वह आदित्य जब तक पूर्व से उदय होता रहेगा । और पश्चिम को अस्त होता रहेगा, तब तक वसुओं के ही स्वामित्व और स्वाराज्य को पाकर वह उपासक आनन्द में विचरता रहेगा।

पष्ठम खण्ड समाप्तः ॥

सातवां खण्ड

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्मद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥ स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्मात्रूपादुदेति ॥३॥

अब जो दूसरा अमृत है शुक्ल स्वरूप है उसको रुद्र संज्ञा वाले देव ऐश्वर्य के मुख से पान करते हैं। रुद्र देव ऐश्वर्य वाले तथा समृद्धि वाले होते हैं।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेताद्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेवतावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

सूर्य जब तक पूर्व से उदय होता रहेगा और पश्चिम को अस्त होता रहेगा, और उससे दुगुने काल तक दक्षिण से उदय होता रहेगा और उत्तर को अस्त होता रहेगा। इतने काल तक वह रुद्रों के स्वामित्व और स्वाराज्य को प्राप्त करेगा।

सप्तम खन्ड समाप्तः ॥

आठवां खण्ड।

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं वेद, आदित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेन, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति। स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥ स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्त-

मेता, द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तदस्तमेतता । आदित्याना-मेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

जो तीसरा अमृत, परमकृष्ण स्वरूप है उसको वरुण मुख से आदित्य देव पान करते हैं । वह जो इसको जानता है, रुद्रों से दुगुने काल तक आदित्यों के स्वाराज्य को भोगता है ।

अष्टम खन्ड समाप्तः ॥

नवां खण्ड

अथ यच्चतुर्थममृतं सन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्मात्रूपादुद्यन्ति ॥२॥ स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्मात्रूपादुदेति॥३॥ स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणातोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

जो चौथा अमृत है, उत्कृष्ट श्याम प्रकाश है उसको सोम मुख से मरुतदेव पान करते हैं । जो ऐसा जानता है वह आदित्यों से दुगुने काल तक मरुतों के स्वाराज्य में रहता है ।

नवम खण्ड समाप्तः ॥

दसवां खण्ड

अथ यत्पञ्चममममृतंतत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिवन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेन, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति। स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥ स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता । द्विस्तावदूर्ध्वमुदेतार्वागस्तमेता, साध्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

जो पाँचवाँ अमृत है वह ब्रह्मज्ञान है । उसको ब्रह्मज्ञान के मुख से साधनशील देवपान करते हैं । जो ऐसा जानता है, वह मरुतों से दुगुने काल तक साध्यों के स्वाराज्य में रहता है । ऊपर का वर्णन ऊँचे जीवनोंकी ओर संकेत करता है। काल की मर्यादा कल्पनायुक्त है ।

दसम खन्ड समाप्तः ॥

ग्यारहवां खण्ड

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्यन नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥१॥

और उसके ऊपर जाकर फल भोग कर लोकों को लाँघ कर आदित्योपासक जन नहीं उदय होता नहीं जन्म लेता । न ही

अस्त होता है, न ही मरता है। वह अमर आत्मा पाप कर्म से मुक्त होकर अकेला ही भगवान् में रहता है। उस पर यह श्लोक है।

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहꣳ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥२॥

निश्चय से उस अवस्था में बन्ध नहीं है। न वहाँ सूर्य्य अस्त होता है। और न कभी भी उदय होता है। वह सदा प्रकाशमय लोक है। हे देवो! मैं इस वर्णन का कर्त्ता, उस सत्य स्वरूप ब्रह्म का न विरोधी होऊँ। उस के विषय में मेरे मुख से असत्य वचन न निकले।

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥३॥

जो आदित्यवर्ण भगवान् का उपासक इस ब्रह्मरहस्य को इस प्रकार जानता है, निश्चय से इसके लिये सूर्य नहीं उदय होता और न अस्त होता है। निश्चय से इसके लिए वह लोक होता है जहाँ सर्वदा दिन ही रहता है। ऐसा उपासक सदैव प्रकाशमय धाम में निमग्न रहता है।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच॥४॥

पहले समय में वह यह आदित्य उपासना का रहस्य ब्रह्मा ने प्रजापति को बताया। प्रजापति ने मनु को और मनु ने प्रजाओं को बताया। कालान्तर में फिर वह यह ब्रह्मरहस्य अरुणि पिता ने अपने बड़े पुत्र उद्दालक आरुणि को कहा।

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्राणाय्याय वान्तेवासिने ॥५॥

निश्चय से यह वह ब्रह्मज्ञान का रहस्य पिता अपने बड़े पुत्र को कहे; अथवा गुरु प्राणतुल्य प्यारे शिष्य को उपदेश दे । परम श्रद्धावान् मनुष्य ही आदित्य उपासना का अधिकारी है ।

नान्यस्मै कस्मैचनः यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥६॥

यदि कोई चक्रवर्त्ती राजा इस आदित्य उपासना के ज्ञाता को यह पृथिवी, जो समुद्रों से घिरी हुई है, धनसे परिपूर्ण देवे, तो भी वह उपासक पुत्र और प्राणतुल्य शिष्य के अतिरिक्त अन्य किसी को भी यह रहस्य न बतावे । उस धनपूर्णा पृथिवी से यह उपासना बहुत मूल्यवती है । आदित्योपासना का भेद मन्त्रों में वर्णन किया गया है । शेष उसकी महिमा है ।

एकादशो खण्ड समाप्तः ॥

बारहवां खण्डः ॥

गायत्री वा इद ँ सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इद ँ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥१॥

जो यह कुछ है निश्चय से सब गायत्री है । गायत्री ही सारे जगत का सार है । वाणी ही गायत्री है । क्योंकि वाणी ही इस सारे संसार को गाती है और बचाती है ।

गायत्री मन्त्र ही सारे सारों का सार है। वह भगवान् को गाता है और उपासक को पाप से बचाता है।

या वै सा गायत्री इयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥२॥

निश्चय से सब को बचाने वाली गायत्री है। निश्चय से यह गायत्री वह है जो यह पृथिवी है; पृथिवी की भांति भगवती गायत्री सब को पालती है। इसी गायत्री में यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है। इस गायत्री को कोई नहीं लांघ सकता। गायत्री की की महिमा प्रधान है।

या वै सा पृथिवी इयं वाव सा यदिदयस्मिनपुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिसीयन्ते ॥३॥

निश्चय से जो पृथिवी है, निश्चय यह वह गायत्री है। जो यह इस पुरुष में शरीर है, इसी में ये प्राण प्रतिष्ठित हैं इसी ही शरीर को ये प्राण नहीं लांघते।

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नतः पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥४॥

जो ही उस पुरुष में शरीर है, यह ही वह है, जो यह इस पुरुष के भीतर हृदय है। इसी हृदय में ये प्राण प्रतिष्ठित हैं। इसी हृदय को ही वे प्राण नहीं लांघते; इसी में रहते हैं। गायत्री भी प्राणों में ही निवास करती है। उसका जप और गायन हृदय से तथा प्राण से होना चाहिए।

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥५॥

वह यह चार चरण वाली और छः प्रकार की गायत्री है। वह यह ऋचा में कही गई है। मन्त्र, वाणी, पृथिवी, शरीर, प्राण और हृदय, ये उसके छः स्थान हैं। चार चरण आगे कहे जाते हैं।

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पुरुषः पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥६॥

इस गायत्री वर्णित भगवान् की महिमा उतनी है जितनी कि मनुष्य वर्णन करता है। उस वर्णन से भगवान् बहुत ही बड़ा है। सारे प्राणी उसका एक पाद है; उसका अमृतमय पादत्रय प्रकाशमय लोक में है। सारी सृष्टि, सारा मानुषीज्ञान भगवान् का एकांश हैं। उसकी क्या महिमा गाई जाय वह तो स्वरूप और सत्ता से अनन्त है।

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥७॥

जो ही वह ब्रह्म है यह ही वह गायत्री वर्णित सविता है जो यह पुरुष से बाहर प्रकाशमान है; जो ही वह पुरुष से बाहर प्रकाशमान है।

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥८॥

यह ही वह पुरुष से बाहर प्रकाशमान ईश्वर है जो यह भीतर पुरुष में आकाश है; प्रकाश है। जो ही वह भीतर पुरुष में आकाश है।

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णमप्रवर्तिनीँ श्रियं लभते स एवं वेद ॥९॥

यह ही वह पुरुष के भीतर का आकाश-ब्रह्म--है जो यह हृदय के भीतर प्रकाश है । गायत्री से आराधित सविता हृदय का प्रकाश है । वह अन्तर्मुख होकर देखा जाता है वह यह परमेश्वर पूर्ण अखण्ड है और अप्रवर्त्ति है, न बदलने वाला एक रस है । जो ऐसे जानता है वह उपासक पूर्ण और न नाश होने वाली मोक्ष को पाता है । गायत्री की उपासना का फल प्रकाशमय आनन्द धाम है ।

द्वादश खण्ड समाप्तः ॥

तेरहवां खण्ड ॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ्गसुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥१॥

निश्चय से उस पूर्व वर्णित उस हृदय के पांच देव छिद्र हैं, पांच देव द्वार हैं । वह जो इसका पूर्ववर्त्ती द्वार है: वह प्राण है मुख नासिका का प्राण है, नेत्र है और यह आदित्य है; आत्मप्रकाश का स्थान है । वह यह द्वार तेज--शक्ति--और भोक्ता जान कर ऐसे उपासना करे । जो उपासक ऐसा जानता है वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता हो जाता है ।

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳ स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥२॥

और जो इस हृदय का दक्षिण द्वार है वह व्यान; है वल है वह सुनने का सामर्थ्य है और वह चन्द्रमा है-प्रसन्नता है। वह यह द्वार शोभा और यश है ऐसी उपासना करें। जो उपासक ऐसा जानता है वह श्रीमान और यशस्वी हो जाता है। यह आत्मा की शक्तियों का वर्णन है जो हृदय से प्रकट होती हैं।

अथ योऽस्य प्रत्यंग सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्नि-स्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥३॥

और जो इस हृदय का पश्चिम का छिद्र है वह अपान है, मुख द्वार से निकलने वाली शक्ति है। वह वाणी है। वह अग्नि है-मुख से प्रकाशित तेज है। वह यह ब्रह्मतेज और अन्न का भोक्तृत्व जान कर उपासना करे। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म-तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होजाता है।

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्त-देतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद ॥४॥

और जो इसका उत्तरस्थ द्वार है वह समान है; देह को सम रखने वाली शक्ति है। वह मन है, वह वर्षणशील है। वह

यह कीर्ति और विशेषकान्ति जान कर उपासना करे । जो ऐसा जानता है वह कीर्तिमान् तथा कान्तिमान् हो जाता है ।

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायु स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥५॥

और जो इसका ऊपर का द्वार है वह उदान है, ऊंची गति को ले जाने वाली आत्मशक्ति है । वह वायु है, वह आकाश है । वह यह बल और प्रकाश जान कर उपासना करे । जो ऐसा जानता है वह ओजस्वी, महस्वान् हो जाता है ।

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥ ६ ॥

निश्चय से वे पूर्ववर्णित ये पांच–प्राण वा शक्तियां–ब्रह्मपुरुष हैं; परमेश्वर के नियत किये हुये पुरुष प्रकाश हैं । ये हृदयरूप स्वर्ग लोक के द्वार पाल हैं; आत्मा का स्थान हृदय है, उसके ये रक्षक हैं । वह जो इस प्रकार इन पांच ब्रह्मपुरुषों को स्वर्गलोक के द्वारपालों को जानता है उस स्वात्मविश्वासी के कुल में वीर पुत्र उत्पन्न होता है और वह उपासक स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है ।

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु

सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः ॥ ७ ॥

अब जो इस स्वर्ग लोक से ऊपर परम स्वर्गीय ज्योति प्रकाशमान है, वह सारे चक्रों में, सब ओर से चक्रों में और अनुत्तम तथा उत्तम चक्रों में ज्वलन्तरूप है जो आत्मा का अपना प्रकाश है। उस का यह दर्शन है, जो आगे कहा जाता है।

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद, य एवं वेद ॥ ८ ॥

जहां यह पुरुष इस शरीर में स्पर्श से उष्णता को जान जाता है वह इस का ज्ञान है। उसका यह श्रवण है—जहां यह पुरुष कानों को भी बंद करके बादल की गर्ज की भांति वृषभ के नादि की भांति तथा अग्नि के उज्ज्वल तेज की भाँति सुनता है और देखता है वह यह आत्मदर्शन और श्रवण है, ऐसे ही इसकी उपासना करे। आत्मज्योति को दर्शन और श्रवण करे। जो उपासक इस प्रकार आत्मा को जानता है यह दर्शनीय और सब में सुना हुआ हो जाता है; उसकी विख्याति सर्वत्र हो जाती है।

इस खण्ड में आत्मशक्तियों का, आत्मस्थान का, आत्मदर्शन का तथा आत्मध्वनिश्रवण का वर्णन किया गया है, यह स्वात्म उपासना है।

त्रयोदश खन्ड समाप्तः ॥

चौदहवां खण्ड ।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥

यह सारा निश्चय से ब्रह्म है। उपासना में जो अध्यात्म सूर्य्य प्रतीत होता है वह यह निश्चय से ब्रह्म है। शान्त होकर उस ब्रह्म को "तज्ज, ल, अन् ऐसी उपासना करे, यह जाने कि यह जगत् "तत् ज" उससे उत्पन्न हुआ है। "ल" उसी में लय होगा। "अन्" उसी से जीवित है। ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा लीनता होती है। और निश्चय यह पुरुष सङ्कल्प मय है, यह जाने। जैसे सङ्कल्प वाला पुरुष इस लोक में होता है वैसा ही यहाँ से मरकर दूसरे लोकमें होता है। गति सङ्कल्पानुसार होती है। ऐसा जानकर शान्तपुरुष सङ्कल्प करे। दृढ़ निश्चय तथा अटल विश्वास करे।

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥

वह क्रतुमय पुरुष मनोमय है, ज्ञानवान है। शक्ति ही उस का शरीर है। वह प्रकाश स्वरूप है, सच्चे सङ्कल्पवाला है, आकाशवत निराकार आत्मा है। सर्वकर्म समर्थ है, पूर्णकाम है, सर्वगन्ध ज्ञानवान् है, सर्वरसज्ञानवान् है इस सारे शरीर को प्राप्त है

सारे शरीर में विद्यमान है। वह वाणी से रहित है और "संभ्रम" अप्राप्तप्राप्ति से ऊपर है सर्वसुख सम्पन्न है।

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एषम आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

आत्मा का ज्ञाता महर्षि कहता है-यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर, अन्न के दाने से, जौ से, सरसों से, श्यामाक से, श्यामाक के चावल से सूक्ष्म है; अत्यन्त सूक्ष्म सत्ता है। और यह ही मेरी आत्मा, हृदय में भीतर स्वशक्ति, स्वरूप तथा ज्ञान से पृथिवी से वड़ा है; अन्तरिक्ष से वड़ा है, प्रकाशमय तारामण्डल से वड़ा है और इन सारे लोकों से वड़ा है, चैतन्यस्वरूप, आत्म सत्ता की तुलना जड़लोक अनेक मिलकर भी नहीं कर सकते।

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः। एषम आत्मान्तर्हृदये एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति। यस्य स्याद्द्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

वह मेरा आत्मा सर्वकर्म समर्थ है पूर्णकाम है, सर्वगन्ध, सर्वरस ज्ञानवान है; सारे इस शरीर को सुप्राप्त है, वाणी रहित है और किसी भोग के आदर से ऊपर है; पर पदार्थकी अपेक्षा नहीं करता तथा ही यह मेरे हृदय में भीतर जो साक्षीरूप आत्मा है यह ब्रह्म है। मैं यहाँ से मरकर इसी को प्राप्त होऊँगा। जिस उपासक की

आत्मा परमात्मा में ऐसी श्रद्धा हो, सन्देह तथा शङ्का न हो वह भी इसी ब्रह्म को प्राप्त होगा । यह शाण्डिल्य महर्षि ने कहा था । यह खण्ड शाण्डिल्य का कहा हुआ है ।

चतुर्दश खण्ड समाप्तः ॥

पन्द्रहवां खण्ड ।

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्त्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलम्; स एष कोशो वसुधानः । तस्मिन्विश्वमिन्द श्रितम् ॥ १ ॥

वह परमेश्वर अन्तरिक्ष उदर वाला है, अन्तरिक्ष उसका उदरवत् है, भूमि पैर है; वह ऐसा कोश है जो कभी नहीं जीर्ण होता । वह आनन्द का अक्षय भण्डार है । वह इतना बड़ा कोश है कि दिशाएं उसके कोने हैं; ऊपर का लोक उसका ऊँचा बिल छिद्र है । वह यह कोश सारे धनों का निधान है । उसमें यह विश्व आश्रित है ।

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूतानामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मापुत्ररोदꣳ रुदम् ॥ २ ॥

उस सर्वनिधान की पूर्व दिशा जुहु नाम वाली है; यज्ञकर्म से विख्यात है, दक्षिण दिशा सहमाना नाम वाली है; द्वन्द्वसहन से प्रसिद्ध है, पश्चिम दिशा राज्ञी नाम वाली है, शोभा से राजती

है, और उत्तर दिशा सुभूता नाम वाली है, सुन्दरता से प्रसिद्ध है। यह दिशाएं ब्रह्मप्राप्ति के जप, पूजा, यज्ञ तप आदि साधन हैं। उन दिशाओं का वायु वत्स पुत्र है। वह जो इस दिशाओं के पुत्र प्राण को इस प्रकार जानता है पुत्र के वियोगजन्य रोने को नहीं रोता; उसका पुत्र उसके सम्मुख नहीं मरता। इस उपासना का ज्ञाता ऋषि कहता है—मैं इस दिशाओं के वत्स वायु को ऐसे जानता हूँ, इस कारण पुत्ररोदन नहीं रोता, मैं सन्तान के वियोग से नहीं रोता।

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनामुना स्वः प्रपद्यमुनाऽमुनाऽमुना ॥ ३ ॥

इस मन, वचन और काया से की गई उपासना से मैं अक्षय कोश को पाता हूँ। मैं उसी उपासना से दैवी जीवन को पाता हूँ। मैं उसी उपासना सेभूः को प्राप्त होता हूँ, भुवः को प्राप्त होता हूँ और स्वः को प्राप्त होता हूँ।

स यदवोचं प्राणं प्रपद्ये इति, प्राणो वा इदं सर्वं भूतम् यंदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्सि ॥४॥

वह जो कहा था—प्राण को प्राप्त होता हूं, इसका यह सार है कि प्राण ही यह सब अस्तित्व है जो होना है वह ही जीवन है। जो यह कुछ अस्तित्व है उसी को ही प्राप्त होता हूँ।

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति, पृथिवीं प्रपद्ये ऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम् ॥५॥

तथा जो यह मैंने कहा कि भूः को प्राप्त होता हूँ वह यह ही कहा कि पृथिवी को प्राप्त होता हूँ, अन्तरिक्ष को प्राप्त होत हूँ, और प्रकाशमय लोक को प्राप्त होता हूँ।

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इति, अग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येवं तदवोचम् ॥६॥

ऐसे ही जो यह मैंने कहा कि भुवः को प्राप्त होता हूँ वह यह ही कहा था कि अग्नि को प्राप्त होता हूँ, वायु को प्राप्त होता हूँ और आदित्य को प्राप्त होता हूँ।

अथ यदवोचं स्वः प्रपद्य इति ऋग्वेदं प्रपद्ये, यजुर्वेदं प्रपद्ये इत्येवं तदवोचं तदवोचम् ॥७॥

और जो यह मैंने कहा था कि स्वः को प्राप्त होता हूँ वह यह ही कहा था कि ऋग्वेद को प्राप्त होता हूँ और सामवेद को प्राप्त होता हूँ।

इस उपासना में भूः का अर्थ है पृथिवी आदि जड़लोक की सत्ता, स्थिति तथा शक्ति। भुवः से तात्पर्य्य है तेज, प्रकाश और आदित्यलोक। स्वः से तात्पर्य्य है ज्ञान तथा आनन्द। इन तीनों व्याहृतियों की उपासना से त्रिलोकी के आत्मा की प्राप्ति अभीष्ट है।

पन्द्रहवां खण्ड समाप्तः ॥

सोलहवां खण्ड ।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि, तत्प्रातः सवनम्। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं प्रातःसव-

नम्, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसवः एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

मनुष्य देह में स्थित आत्मा ही यज्ञ स्वरूप है। उसकी आयु के जो पहले चौबीस वर्ष हैं वह प्रातः सवन-यज्ञ-है। चौबीस अक्षरों वाली गायत्री है और प्रातःसवन गायत्री वाला है; उसमें गायत्री का अनुष्ठान होता है और ब्रह्मचारी भी प्रथमावस्था में गायत्री की आराधना करता है। इस कारण उसका वह जीवन यज्ञ है। और इस यज्ञ के वसु अनुगत हैं; देवता हैं। प्राण ही, इन्द्रियाँ ही वसु हैं। ये ही पुष्ट होकर इस सारे देह को वसाते हैं।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्सब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनम्। माध्यन्दिनं सवनमनुसंतनुतेति। माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥२॥

उस ब्रह्मचारी को यदि इस अवस्था में कुछ भी कोई सताये तो वह कहे—प्राण वसु हैं; यह मेरा जीवन प्रातःकाल का यज्ञ है। यज्ञ में मुझे कोई कष्ट नहीं होगा। मेरे माध्यंदिन के यज्ञ को बढ़ाओं। मैं प्राण वसुओं के बीच यज्ञ न लोप होऊँ। ऐसी धारणा से तब वह ऊपर जाता है, उन्नत होता है। और मानस रोगरहित होजाता है।

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्; चतुश्चत्वारिंशदक्षरात्रिष्टुम्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्। तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः; प्राणा वाव रुद्राः, एते हीदं सर्वं रोदयन्ति॥३॥

और जो मनुष्य की आयु के ४४ वर्ष हैं वह मध्यन्दिन यज्ञ है। ४४ अक्षर वाला त्रिष्टुप् छन्द है और माध्यन्दिन सवन भी त्रिष्टुप् छन्द वाला है सो इसके रुद्र देवता हैं। प्राण ही रुद्र हैं। ये ही इस सकल जगत् को वियोग काल में रुलाते हैं।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

उसको यदि कोई इस चौतालीस वर्ष की आयु में कुछ सताये तो वह उसे कहे-प्राण रुद्र देवता हैं। यह मेरी आयु माध्यन्दिन यज्ञ है। मेरा तीसरा सवन विस्तृत करो। मैं प्राणों रुद्रों के बीच यज्ञ लुप्त न होऊँ। तब ऊँचा जाता है। और रोग रहित होजाता है।

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳसर्वमाददते ॥ ५ ॥

और जो इसकी आयु के अठतालीस वर्ष हैं वह तीसरा यज्ञ है। वह अवस्था भी सवन स्वरूप है। अठतालीस अक्षर का जगती छन्द है; तीसरे सवन में जगती छन्द के मंत्रों से यज्ञ किया जाता है। सो इसके आदित्य अनुगत हैं, प्राण ही आदित्य हैं। ये ही इस सारे देह को धारण-करते हैं। मनुष्य का श्रेष्ठ जीवन सवन ही है।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ ६ ॥

उस उपासक को कोई यदि इस आयु में कुछ सताये तो वह कहे-प्राण ही आदित्य देवता हैं, मेरी यह आयु तीसरा सवन है। हे प्राण देवो ! मेरी आयु बढ़ाओ। आदित्य देवों के होते हुए मैं यज्ञस्वरूप लोप न हो जाऊं जब तक इन्द्रियों बनी रहें, यज्ञकर्म ही करता रहूं। तब ऊंचा हो जाता है। और रोग रहित हो जाता है।

इस उपासना का रहस्य यह है कि जो उपासक अपने जीवन को यज्ञ रूप जानता और आत्माविश्वासी है उसके रोग उसकी इच्छा से, सङ्कल्प से तथा शुभ भावना से नष्ट हो जाते हैं। उसके प्राण ही उसकी पालना करते रहते हैं। विश्वास होना चाहिए कि अपने प्राण ही जीवन हैं।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडषं वर्षशतमजीवत्प्रह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

यह इतिहासिक वार्ता है कि महीदास ऐतरेय ने निश्चय से यह रहस्य जानकर कहा (मेरे रोग वा शत्रु) सो मुझे तू क्यों सता रहा है। मैं इस तेरे प्रकोप वा प्रहार से नहीं मरूँगा। वह महिदास सोलह और सौ वर्ष जीता रहा। जो उपासक ऐसे जानता है वह भी सोलह और सौ वर्ष तक जीता रहता है।

षष्ठदश-खण्ड समाप्तः ॥

सत्रहवां खण्ड

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥ १ ॥ अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥२॥ अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥३॥

वह यज्ञ स्वरूप उपासक जो कुछ खाना चाहता है, जो पीना चाहता है और जो पापकर्म में नहीं रमण करता है वे इस की दीक्षाएं हैं। वे इसके व्रत हैं। और जो वह खाता है, जो पीता है और जो स्त्री पुत्रादि से प्रेम करता है वह इस का यज्ञ के फल के फलाहार तथा दुग्धादि के समान शुभ होता है। और वह जो हँसता है, जो भक्षण करता है और जो गृहस्थधर्म पालता है, वह इसका कर्म, वेद के स्तोत्र और यज्ञ के उपकरणों के ही समान होता है।

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥ तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ॥ ५ ॥

और जो तप वह करता है जो उसका दान है, सरलस्वभाव है, वैर त्याग है और सत्य वचन है वे इसकी दक्षिणायें हैं। इस कारण इसका सन्तान उत्पादन ही "सोष्यति" और "असोष्ट" पण्डित लोग कहते हैं। सो ऐसे जन का मरण ही इसका अवभृथ यज्ञ है यज्ञ में सोमरस खींचा करते थे। उस समय ऋत्विज कहा करते थे कि यह सोमरस, "सोष्यति" निकालेगा,

उत्पन्न करेगा। इसने सोमरस, "असोष्ट" उत्पन्न किया सो उपासक का सन्तान उत्पादन ही यज्ञ का सोमरस है। अन्त समय में सन्यासरूप अवभृथ नामक यज्ञ होता था। उपासक का मरना ही अवभृथ यज्ञ है।

तद्धैतद्घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥६॥

यह पूर्वोक्त कर्मयोगोपासना, घोरनामक महर्षि अङ्गिरसने देवकी पुत्र श्रीकृष्ण को बताई और उसे कहा। श्रीकृष्ण उसे सीखकर, तृप्त ही होगया। वह घोर बोला हे कृष्ण! मनुष्य अन्त में यह तीन धारण करे। अपने को उपासक कहे मेरे आत्मा तू अखण्ड है, अविनाशी है, जीवनप्रशंसित है। इस पर ये दो ऋचाएं हैं।

आदित्प्रत्नस्य रेतसः; उद्वयन्तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति, ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥

सर्वप्रकार सनातन शक्ति की अन्धकार से ऊपर उत्तम ज्योति को हम देखते हुए और परम आनन्द को देखते हुए, देवों में देव सूर्य को प्राप्त हुए हैं, और उत्तम ज्योति को प्राप्त हुए हैं।

सप्तदश खन्ड समाप्तः ॥

अठारहवां खण्ड ।

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥१॥

मन को ब्रह्म जानकर उपासना करे यह अध्यात्म उपासना है। अब अधिदैवत कहते हैं—आकाश ब्रह्म है ऐसा जानकर उपासना करे । यह दोनों अध्यात्म और अधिदैवत उपासना ऋषियों ने कही है।

मन में ब्रह्म की उपासना की जाती है इस कारण उसको महान् कहा गया है । आकाश में अनन्त भाव स्थापन करके अनन्त भगवान् की उपासना की जाती है इस कारण उसे ब्रह्म कहा गया।

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म । वाक् पादः, प्राणःपादश्चक्षुः पादः, श्रोत्रं पादइत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥२॥

वह यह मन चार पादवान् ब्रह्म है। वाणी पाद है, प्राण पाद है; नेत्र पाद है; और श्रोत्र पाद है। यह अध्यात्म है। अब अधिदैवत में आकाश के चार पाद कहते हैं-अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है, और दिशाएं पाद है। ऐसे दोनों अध्यात्म और अधिदैवत उपासनाभेद कहे हुए हैं ।

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषाभाति च

तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥

वाणी ही मनरूप ब्रह्म का चौथा पाद है। मन की वृत्तियां वाणी में, सारे देह के प्राण में, नेत्र में तथा श्रोत्र में प्रवृत्त होती हैं, इस कारण उसके ये पाद-स्थान हैं। वह वाणी अग्निरूप ज्योति से प्रकाशमान होती तथा दीप्त रहती है। वाणी में आत्मा का प्रकाश काम करता है। उसी से यह उष्ण है। जो उपासक ऐसा जानता है वह प्रकाशमान होता है। और दीप्त रहता है, कीर्ति से यश से तथा ब्रह्म तेज से।

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषाभाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४॥ चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः; स आदित्येन ज्योतिषाभाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥५॥ श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः; स दिग्भि ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या, ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ६ ॥

प्राण ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह चौथा पाद वायुरूप ज्योति से चमकता और तपता है। नेत्र ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह सूर्यरूप ज्योति से चमकता और तपता है। श्रोत्र ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह दिशाओं की ज्योति से चमकता और तपता है।

इसमें अध्यात्म और अधिदैवत को एक करके दर्शाया है। इसका तात्पर्य्य यह है-भीतर वाहर ब्रह्म की एक अखण्ड भावना होनी चाहिए। सब नियमों तथा विकासों में ब्रह्म सत्ता ही स्फुरित समझनी चाहिए।

अष्टदश खन्ड समाप्तः ॥

उन्नीसवां खण्ड ।

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानम् । असदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत्तत्समभवत् । तदाण्डं निरवर्त्तत । तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत । तन्निरभिद्यत । ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥१॥

सूर्य ही ब्रह्म है; यह महर्षियों का आदेश है; सूर्य्य में परमेश्वर की सत्ता को समझने का उपदेश है। उसका विशेष व्याख्यान, यह है। सृष्टि रचना से पहिले यह विश्व अव्यक्त ही था। उसके पश्चात् ईश्वर-सङ्कल्प से व्यक्त हो गया और वह कार्य्यरूप होने लगा। तत्पश्चात् वह अण्डाकार बन गया। तदनन्तर वह अण्डा बरसों की अवधि में प्रसुप्त रहा, उससे कोई दूसरा परिणाम न निकला। फिर वह दो टुकड़े हो गया। वे दो आण्डकपाल चांदी और सोना हो गये।

तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी, यत्सुवर्णं सा द्यौः । यज्जरायु ते पर्वताः । यदुल्बं स मेघो नीहारः । या धमनयस्ता नद्यः यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः ॥२॥

यह जो चान्दी का कपाल था वह यह पृथिवी है; पृथवी चान्दी सदृश है । शान्त वा शीतल भाग पृथिवी बन गया । जो सुवर्ण, तेजोमय कपाल था वह द्यौ सूर्य्यलोक है । जो उस अण्ड में जरायु था, कठिन परिवर्तन था वे पर्वत बने । जो उस में गर्भ था, ढीला, पतला भाग था वह मेघ और कुहरा हुआ । जो उसमें नाड़ियां बन धारियां थीं वे नदियां बन गई और जो उसकी वस्तिका, मध्य का पानी था वह समुद्र हो गया । उसी से ये नाना विकार उत्पन्न हो गये ।

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यः । तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि, सर्वे च कामाः । तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति, घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति, सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ॥३॥

और जो उस से उत्पन्न हुआ वह यह देदीप्यमान सूर्य्य है । उस सूर्य के उत्पन्न होने पर "उरूरवः" विस्तीर्ण शब्द और नाद होने लगे; सारे प्राणी उठे और उनके सारे मनोरथ उठे । सारे काम होने लग गये । उस कारण से उस सूर्य के उदय होने पर और अस्त होने पर, विस्तीर्ण शब्द और नाद होने लग जाते हैं; सारे प्राणी खड़े हो जाते हैं और सारे ही मनोरथ होने लग जाते हैं । सूर्य ही सारी जवी जागृति का कारण है ।

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते, अभ्याशो ह यदेनं साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन् ॥४॥

वह जो इसको ऐसे जानता हुआ, आदित्य को ब्रह्म जान कर ऐसे उपासता है इस उपासक को शीघ्र ही जो श्रेष्ठ नाद हैं वे भली भान्ति प्राप्त होते हैं और सर्व प्रकार सुखी करते हैं।

आदित्योपासना का रहस्य यह है कि इस सूर्य में जो तेज है उसे भगवान् की सत्ता का विकाश जान कर तेजोमय का ध्यान करना। इस उपासना में नाना स्वरूप प्रकट होते हैं।

उन्नीसवां खण्ड समाप्तः ॥

चौथा प्रपाठक (पहला खण्ड)।

जानश्रुतिर्ह पौत्रायण श्रद्धादेयो बहुदायी, बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान् मापयांचक्रे, सर्वत एव मे ऽत्स्यन्तीति १॥

पुराकाल में एक राजा, जानश्रुति नाम से पौत्रायण श्रद्धा से देने वाला, बहुत दान देने वाला था। उसने अपने राज्य में सब ओर धर्मशालाएं बनवाईं। इस कारण कि सब ओर से आने जाने वाले यात्री मेरा ही अन्न खायेंगे।

अथ ह हंसा निशायामतिपेतुः। तद्धैवं हंसो हंसमभ्युवाद। हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष! जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसांक्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति॥ २॥

यह एक ऐतिहासिक घटना है कि रात में वहां हंस आये; एक हंस नेदूसरे हंस को कहा—हो हो हे भद्रनयन भद्रनयन! देख,

जानश्रुति पौत्रायण का द्युलोक के समान प्रताप फैल रहा है; उसकी कीर्ति का विशाल सूर्य उदय हो रहा है। उसके साथ सम्बन्ध न करना, कहीं वह तुझे दग्ध न करदे।

तमु ह परः प्रत्युवाच, कम्बर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति। यो नु कथं सयुग्वा रैक इति ॥३॥

उस हंस से दूसरे हंस ने कहा—अरे! किसको इसको ऐसे को, एक साधारण जन को, गाड़ी वाले, रैंक नामक ऋषि की भांति कहता है, बता रहा है। उसने पूछा जो सयुग्वा रैक है वह कैसा?

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्व तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥४॥

दूसरे हंस ने कहा—जैसे जीते हुये पासे को, जुये के प्रधान अंक को नीचे के अंक मिल जाते हैं, ऐसे ही इस रैक को जो कुछ उत्तम कर्म करता है वह सब प्राप्त होता है; वह सारे शुभों का स्थान है। जो जान श्रुति जानता है वह, यह रैक जानता है। मैंने यह रैक के लिये कहा।

तदु ह जानश्रुतिः पोत्रायण उपशुश्राव। स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाच। अगारे! सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति। यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति ॥ ५ ॥ यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्व तदभिसमेति, यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्स वेद। स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

वह हंसों का सम्वाद जानश्रुति पोत्रायण ने सुन लिया। वह सवेरे जगते ही सारथि को बोला—हे प्रिय! आज रात को यह बात सुनी है इत्यादि। तू रैक का पता लगा, वह कैसा है यहजानें।

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय । तं होवाच; यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदनेमर्च्छेति ॥ ७ ॥

वह सारथि खोज कर यह समझा कि मैं उसे नहीं जान सका और लौट आया। राजा ने फिर उसे कहा—अरे! जहां ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण की खोज हुआ करती है वहां इसको मिले। वह तुझे ऐसे ही स्थान में मिलेगा।

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपविवेश । तं हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक इति? अहं ह्यरा ३ इतिह प्रतिजज्ञे । स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥ ८ ॥

क्षता ने अन्वेषण करते हुये एक स्थान में गाड़ी के नीचे छाया में बैठे हुए और दाद को खुजलाते हुए को देखा। तब वह उसके पास बैठ गया। क्षता ने उसको नमस्कार पूर्वक कहा—भगवन्! क्या तू ही गाड़ी वाला रैक है? उसने उत्तर में—अरे मैं ही हूं; ऐसा स्वीकार किया। तब वह सारथि यह समझ कर कि मैंने इसे जान लिया, लौट आया।

प्रथम खण्ड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड ।

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कम-श्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे । तं हाभ्युवाद ॥ १ ॥

सारथि ने राजा को जिस समय रैक का पता दिया उसी समय जानश्रुति पौत्रायण छः सौ गाएं, रत्नमाला और खच्चरों का रथ, यह सब लेकर मुनिदर्शनार्थ चला । मुनि के समीप जाकर उसको विनय से बोला ।

रैक ! इमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयम-श्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवता-मुपास्स इति ॥ २ ॥

हे रैक ! ये छः सो गौएं, यह हार और यह अश्वतरीरथ है । इन्हें ग्रहण कीजिए । तदनन्तर भगवन् ! मुझे उस देवता की उपासना सिखा जिस देवता की तू उपासना करता है ।

तमु ह परः प्रत्युवाचाह, हारे त्वा शूद्र ! तवैव सह गोभिरस्त्विति । तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

तब यह सुन कर दूसरा रैक उसको उत्तर में बोला—अरे शूद्र ! हे कर्मी ! हार के साथ आना और गौओं के साथ आना तेरा ही हो; ए सब वस्तुएं तेरी ही रहें । तब फिर भी जानश्रुति पौत्रायण एक सहस्र गौएं, हार, अश्वतरीरथ तथा पुत्री, यह सब लेकर मुनि की ओर चला ।

तं हाभ्युवाद--रैक्व ! इदं सहस्रं गवामयं निष्कोऽयम-श्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्से । अन्वेव माभगवः शधीति ॥ ४ ॥

उसको जानश्रुति ने कहा—रैक्व ! यह सहस्र गौएँ, यह अश्वतरीरथ, यह भार्य्या और यह ग्राम जिसमें तू विद्यमान है ग्रहण कर । तत्पश्चात ही भगवन् ! मुझको उपदेश दें ।

तस्याह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच । आजहारेमाः शूद्राने-नैव मुखेनालापयिष्यथा इति । ते हैते रैक्वपर्णा नाम महा-वृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच ॥५॥

रैक्व उस स्त्री के मुख को प्रेम से देखता हुआ जानश्रुति को बोला- हे कर्मी ! ये वस्तुएं तू लाया, परन्तु मेरे साथ तो तू इस ही मुख से, अपनी पुत्री के सम्बन्ध से, वार्तालाप करेगा । यह कह कर रैक्व ने सब वस्तुऐं ले लीं । वे ये ग्राम जो राजा ने उसे दिये महावृषबंनों में रैक्वपर्ण प्रसिद्ध हुए । यहां वह रहा और उस जानश्रुति को उसने उपदेश दिया ।

द्वितीय खण्ड समाप्तः ॥

तीसरा खण्ड ।

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमवाप्येति । यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति । यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥१॥

वायु ही लय करने वाली है । जब अग्नि बुझ जाती है, वायु को प्राप्त होती है । जब सूर्य अस्त हो जाता है, वायु में ही लीन होता है । जब चन्द्रमा अस्त हो जाता है वायु में ही लय होता है । सारे स्थूल पदार्थ वायु में, सूक्ष्म कारण में लय होते हैं ।

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति, वायुर्ह्येवैतान्सर्वान् संवृंक्ते । इत्यधिदैवतम् ॥२॥

जब पानी सूखते हैं तो वायु को ही प्राप्त होते हैं । वायु ही इन सब पदार्थों को संवरण करता है, वायु में ही सब का लय होता है । यह अधिदैवत वर्णन है ।

अथाध्यात्मम्, प्राणो वाव संवर्गः । स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति, प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रम्, प्राणं मनः, प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृंक्त इति ॥३॥ तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ, वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥४॥

अब अध्यात्म वर्णन किया जाता है । प्राण-आत्मा-ही संवर्ग है । वह मनुष्य जब सोता है तो प्राण में ही वाणी लीन होती है; उस समय प्राण में आंखें, प्राण में श्रोत्र और प्राण में ही मन लय होता है । प्राण-आत्मा-ही इन सब इन्द्रियों को ही संवरण करता है । वे ही ये दो संवर्ग हैं, लयस्थान हैं । वायु ही देवों में लय स्थान है और प्राण इन्द्रियों में लय स्थान है ।

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥५॥

एक समय शौनक कापेय और अभिप्रतारी काक्षसेनि को जब भृत्य भोजन परोस रहे थे, एक ब्रह्मचारी ने कहा-भिक्षा दो। उसको उन्हों ने भोजन नहीं दिया।

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ ६ ॥

वह ब्रह्मचारी बोला-भुवन का पालक एक ही सुख स्वरूप देव है। वह ही महान् चारों को-अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल को; वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन को खाता है। भगवान् में ही ये सब लय होते हैं। आश्चर्य है !! हे कापेय ! हे प्रतारिन्, सर्वत्र विद्यमान उस सर्वपालक को मनुष्य नहीं जानते। यह ही कारण है जिसके लिये यह अन्न पकाया गया है उसको यह नहीं दिया गया।

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳ हिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥

ब्रह्मचारी के उस कथन को शौनक कापेय मनन करता हुआ उसके पास आया। और बोला-हे ब्रह्मचारिन् ! उस देव को हम जानते हैं। वह देवों का ईश्वर है, प्रजाओं का उत्पादक है, अखण्ड नियम वाला है, सारी सृष्टि का लय-करता है सर्वज्ञ है। इस की महा महिमा को उपासक वर्णन करते हैं। वह भगवान् न खाता हुआ भी जो अन्न नहीं है उसे भक्षण करता है; प्रकृति

को लय करता है। निश्चय से, हे ब्रह्मचारिन् हम इस ब्रह्म की उपासना करते हैं, यह कह कर उसे भिक्षा दे दी।

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश संतस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतꣳ सैषाविराडन्नादी तयेदꣳ सर्वं दृष्टꣳ सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

उन्हों ने उसको अन्न दिया। ये वायु आदि पांच; प्राणादि पांच मिल कर दस हुए, वह कृत है; जुआ खेलने का पासा है, इस कारण सारी दिशाओं में अन्न ही दस प्रकार का है। महाशक्ति अन्न खाने वाली है। जो उपासक ऐसे जानता है वह अन्न का भोक्ता होता है।

तृतीय खन्ड समाप्तः ॥

चौथा खण्ड।

सत्यकामो ह जाबालो जाबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे। ब्रह्मचर्य्यं भवति? विवत्स्यामि। किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥१॥

जाबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी जबाला माता से पूछा। हे पूज्या! मैं ब्रह्मचर्य्य धारण करूंगा। तू बता-मैं कौन गोत्र वाला हूँ।

सा हैनमुवाच नाहमतद्वेद तात? यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद्गो-

त्रस्त्वमसि । जबाला तु नामाऽहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसि । स सत्यंकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति ॥२॥

वह पुत्र को बोली—प्यारे ! मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र वाला है । अनेक स्थानों में काम करने वाली मुझ नौकरानी ने यौवन में तुझे पाया । इस कारण जिस गोत्रवाला तू है वह मैं नहीं जानती । जबाला नाम तो मेरा है और सत्यकाम नाम तेरा है । सो जाबाल सत्यकाम ही गुरु के पूछने पर कहना ।

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्य्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥३॥

वह सत्यकाम गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत ऋषि के पास जाकर बोला—मैं आपके समीप ब्रह्मचर्यव्रत को पालता हुआ रहूँगा । इस कारण सेवा में आया हूं ।

तं होवाच—किं गोत्रो नु सोम्यासीति । स होवाच—नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मि । अपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीत्, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे । साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि, जबाला तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसीति । सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥४॥

उस सत्यकाम को गौतम ने कहा सोम तेरा गोत्र क्या है वहबोला—हे भगवन् ! किस गोत्र वाला मैं हूँ, यह मैं नहीं जानता । मैंने अपनी माता को गोत्र पूछा था । उसने मुझे कहा—मैं बहुत स्थानों में काम करती हुई नौकरानी थी । यौवन में तू मुझे प्राप्त हुआ इत्यादि पूर्ववत् । सो मैं सत्यकाम जाबाल हूँ ।

तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳ सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳ संपेदुः ॥ ५ ॥

सत्यकाम को गौतम ने कहा—अब्राह्मण-अज्ञानी-यह बात नहीं कह सकता। इस कारण तू ब्राह्मण है। सोम्य समिधा ले आ, मैं तुझे उपनयन दूंगा। तू सत्य से गिरा नहीं है। उसको उपवीत देकर गुरु ने कृश दुर्बल गौओं में से चार सौ गौयें निकाल कर उसे कहा—सोम्य इनको वनों में लेजा। उनको चलाते समय वह बोला—हे गुरो ! सहस्र हुए बिना मैं नहीं लौटूंगा। वह वरषों तक वनों में प्रवासी बना रहा। जब वे गौयें सहस्र हुईं।

चतुर्थ खन्ड समाप्तः ॥

पांचवां खण्ड।

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगवः इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥

तब इसको ऋषभ ऋषि ने पुकारा हे सत्यकाम ! सत्यकाम ने भगवन् कह कर उत्तर दिया ऋषभ ने कहा-सोम्य ! सहस्र हम हो गये हैं। अब हमें आचार्यकुल में प्राप्त कर। यहां ऋषभ से दिव्य स्वरूप समझना उचित है।

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

फिर ऋषभ ने कहा—सत्यकाम मैं तुझे ब्रह्म का स्वरूप बताऊं। वह बोला भगवन् मुझे बतायें। तब उसको ऋषभ ने कहा-ब्रह्म की एक कला पूर्व दिशा दूसरी कला पश्चिम दिशा तीसरी कला दक्षिण दिशा और चौथी कला उत्तर दिशा है। सोम्य! निश्चय से ब्रह्म का चतुष्कलपाद प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध है।

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिंल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

जो मनुष्य ब्रह्म को चार कला वाला जानता हुआ उपासना करता है। वह इस लोक में प्रकाशवान् हो जाता है निश्चय से वह प्रकाशवाले लोकों को प्राप्त करता है।

पञ्चम खण्ड समाप्तः ॥

छठा खण्ड।

अग्निष्टे पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा

उपरुध्य, समिधमाधाय, पाश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

ऋषभ ने फिर कहा—तुझे दूसरा पाद अग्नि कहेगा । उसने सवेरे होने पर गौयें हाँक लीं । उनको चलते हुए जहां सायं हुई वहां ही उसने अग्नि जला कर चांदना किया और गौओं को रोक कर अग्नि में समिधा लगा कर अग्निहोत्र किया । फिर वह अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया ।

तमग्निरभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥ ब्रह्मणः सोम्य । ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच–पृथिवी कलान्तरिक्षं कला, द्यौः कला, समुद्रः कला । एष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥३॥

उस समय उसको अग्नि ने कहा—हे सोम्य ! तुझे ब्रह्म का स्वरूप कहूं । उसने कहा-भगवन् मुझे बतायें । उसको अग्नि ने कहा—एक कला पृथवी, दूसरी कला अन्तरिक्ष, तीसरी कला द्यौप्रकाशमय लोक और चौथी कला समुद्र है । हे प्यारे निश्चय से यह ब्रह्म का चार कलावाला स्वरूप अनन्तवान् नाम से प्रसिद्ध है ।

भगवान् सर्वत्र विद्यमान है और अनन्त है । यह अनन्तोपासना है । यहां अग्नि से समाधि में दृष्ट दिव्यस्वरूप अभिप्रेत है ।

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिंल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपासते ॥४॥

जो पुरुष ब्रह्म को चार कला वाला अनन्तवान् जानकर उपासना करता है, वह अनन्त और अविनाशी होजाता है। और अनन्तवान् लोकोंको जय करता है।

षष्ठम खण्ड समाप्तः ॥

सातवां खण्ड

हंसस्ते पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार । ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥ तं हंस उपनिपत्याभ्युवाद । सत्यकाम३इति; भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥ ब्रह्मणःसोम्य ! ते पादंब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच-अग्निःकला, सूर्य्यःकला, चन्द्रःकला, विद्युतकला । एष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोज्योतिष्मान्नामम् ॥३॥

उस दिव्य तेजोमय ने उसे कहा—तुझे तीसरा पाद हंस कहेगा। हंस ने उसे कहा—एक कला अग्नि, दूसरी कला सूर्य, तीसरी कला चन्द्र और चौथी कला बिजली है। यह चार कला वाला ब्रह्म ज्योतिष्मान् नाम से प्रसिद्ध है। परमेश्वर चैतन्य है। सब ज्योतियों की वह ज्योति है। उसी की ज्योति से अन्य ज्योतिष्मन्त है।

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते, ज्योतिष्मानस्मिल्लोके भवति; ज्योतिष्मतो ह

लोकाञ्जयति । य एतमेव विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥४॥

जो मनुष्य भगवान के स्वरूप को ज्योतिष्मान् जानकर उपासना करता है, वह इस लोक में ज्योतिवाला हो जाता है उसे देदीप्यमान ज्योति दीखने लगती है और वह तेजोमय लोकों को प्राप्त करता है।

सप्तम खण्ड समाप्तः ॥

आठवां खण्ड ।

मद्गुष्टे पादं वक्तेति । स ह श्वोभूतो गा अभिप्रस्थापयांचकार । ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥ तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद । सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥ ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच-प्राणः कला, चक्षुः कला, श्रोत्रं कला, मनः कला। एष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥३॥

तीसरा पाद बता कर उस दिव्य श्वेतस्वरूप ने उसे कहा-तुझे मद्गु चौथा पाद कहेगा। अगले दिन, सायं समय मद्गुने उसके पास आकर उसे बताया कि चौथे पाद की एक कला प्राण दूसरी कला नेत्र तीसरी कला श्रोत्र और चौथी कला मन है। इस चार कला वाले ब्रह्म का एश्वर्यसम्पन्न नाम है।

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्य-पास्ते, आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकञ्जयति । य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥४॥

जो मनुष्य इस प्रकार जानता हुआ चार कला वाले परमेश्वर के स्वरूप को एश्वर्यसम्पन्न है वह इस लोक में एश्वर्यसम्पन्न हो जाता है। वह भगवान् के आश्रय में अमर हो जाता है और अमर लोक को प्राप्त करता है।

अष्टम खन्ड समाप्तः ॥

नवां खण्ड ।

प्राप हाचार्य्यकुलम् । तमाचार्योऽभ्युवाद—सत्यकाम ३ इति । भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव ॥१॥ ब्रह्मविदिव वै सोम्य ! भासि, को नु त्वानुशशासेति । अन्येमनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे । भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥२॥

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी बनकर सत्यकाम आचार्यकुल में प्राप्त हुआ। आचार्य ने उसको वात्सल्यभाव से पुकारा—हे सत्यकाम ! उसने भगवन् ! कह कर वह शब्द सुना। गुरु ने कहा—सोम्य ! निश्चय से तू ब्रह्मवेत्ता की भांति दीखता है। तुझे किसने शिक्षा दी ? उसने उत्तर दिया—मनुष्यों से अन्यों ने। परन्तु भगवन् ही मुझे यथेच्छासे उपदेश दें। मैं आपका शिष्य हूँ।

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदितितस्मै हैतदेवोवाच अत्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥३॥

मैंने आप जैसे महात्माओं से ही सुना है। कि आचार्य से ही सीखी-हुई ब्रह्मविद्या कल्याण को प्राप्त कराती है। यह सुन कर आचार्य ने उसे कहा—जो कुछ तूने सीखा है, इसमें निश्चय से कुछ भी शेष नहीं है; शेष नहीं है। यह पूर्ण विद्या है।

नवम खण्ड समाप्तः ॥

दसवां खण्ड ।

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्य्यमुवास । तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन् परिचचार । स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयंस्त ह स्मैव न समावर्तयति ॥ १ ॥

यह प्राचीन वृतान्त है कि कमल ऋषि का पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबाल के समीप ब्रह्मचर्य धारण करके रहा। उसे बारह वर्ष बीत गये, वह यज्ञानुष्ठान करता रहा। समय समय पर वह सत्यकाम दूसरे शिष्यों का समावर्त्तन करता रहा परन्तु उसने उपकोशल का समावर्तन नहीं कराया।

ते जायोवाच-तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन् प्रब्रूह्यस्मा इति । तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥ २ ॥

सत्यकाम को उसकी भार्या बोली—यह ब्रह्मचारी तप कर चुका है। इसने भली प्रकार यज्ञानुष्ठान किया। तुझे अग्नियां न शाप दें, इस कारण इसको अनुमति दे, उपदेश दे। परन्तु वह उसको कुछ कहे बिना ही बाहर चला गया।

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे । तमाचार्यजायोवाच—ब्रह्मचारिन्नशान किन्नु नाश्नसीति । स होवाच—बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिःप्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

उपकोशल ने मानसिक व्याधि से अनशन धारण कर लिया । तब उसको आचार्य भार्या बोली—हे ब्रह्मचारी, अन्न खा; तू क्यों नहीं खाता है ? वह बोला—इस मन्दभाग्यवान पुरुष में अनेक कामनायें हैं, उन नाना प्रकार की व्याधियों में परिपूर्ण हूँ । इस कारण भोजन नहीं करूंगा ।

अथ हाग्नयः समूदिरे—तप्तो ब्रह्मचारी, कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति । तस्मै होचुः ॥ ४ ॥

तदन्तर अग्नियां परस्पर बोलीं—यह ब्रह्मचारी तप कर चुका है भली प्रकार इसने हमारी सेवा की । अहो ! इसको रहस्योपदेश दें । उसको उन्हों ने कहा ।

प्राणो ब्रह्म । कं ब्रह्म । खं ब्रह्मेति । स होवाच—विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म; कं च तु खं च न विजानामीति । ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खम्, यवेद खं तदेव कमिति । प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥

ब्रह्म प्राण स्वरूप, सुखस्वरूप ब्रह्म आकाशवत् निराकार है । यह सुन कर उपकोशल ने कहा-जो प्राण ब्रह्म है वह तो मैं जानता हूँ किन्तु कं और खं में नहीं जानता ।

वे बोले-जो कं है सुख है, जो खं है वह निराकार है और जो निराकार है वह सुखमय है । उसको प्राण और आकाश विषयक कथन किया ।

दशम खण्ड समाप्तः ॥

ग्यारहवां खण्ड

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति य एषं आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

तदनन्तर इस उपकोशल को गार्हपत्याग्नि ने उपदेश दिया कि पृथिवी, अग्नि, अन्न और सूर्य ये मेरे धाम हैं, इनमें मैं विद्यमान हूँ । परन्तु जो यह सूर्य में पुरुष दीखता है वह मैं हूँ; वह ही मैं हूँ ।

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति, सर्वमायुरेति,ज्योग्जीवति, नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते । उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २॥

वह जो इसको ऐसे जानता हुआ उपासना करता है वह पापकर्मों का नाश करके उत्तम जन्म वाला हो जाता है, सारी आयु को पाता है, इसके पुत्रपौत्रादि नहीं नाश होते, हम उसको इस लोक में और परलोक में पालते हैं; उसकी रक्षा तथा पालना दोनों लोक में हम करते हैं ।

एकादशो खण्ड समाप्तः ॥

बारहवां खण्डः ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास, आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति । य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि, स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥ स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते । उप वयं तं भुंजामोऽस्मिश्च, लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

तत्पश्चात् उपकोसल को दक्षिणाग्नि ने उपदेश दिया कि जल, दिशाएं, नक्षत्र और चन्द्रमा ये मेरे स्थान हैं । जो यह चन्द्रमा में पुरुष दीखता है वह स्वरूप मैं हूँ ।

द्वादश खण्ड समाप्तः ॥

तेरहवां खण्ड ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशासः, प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति । य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि, स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥ स य एतमेवं विद्वानुपास्ते ऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्ते । उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च, य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

तदनन्तर इस ब्रह्मचारी को आहवनीय अग्नि ने उपदेश दिया कि प्राण, आकाश, द्युलोक तथ विद्युत् ये मेरे स्थान हैं,

इन में मैं प्रकट हूँ। परन्तु जो यह विद्युत् में पुरुष दिव्य स्वरूप-दीखता है वह मैं हूँ; वह ही मैं हूँ।

त्रयोदश खण्ड समाप्तः ॥

चौदहवां खण्ड।

ते होचुरुदकोसल! एषा सोम्य! तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या। चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति आजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥ १ ॥

वे अग्नियां बोलीं—हे उपकोशल! हे सोम्य, तुझको यह जो विद्या दी है वह विद्या—आत्म विद्या है सब लोकों में एक ही परमेश्वर की नाना शक्तियां काम करतीं हैं; और वह एक अखण्ड प्राण और सुख स्वरूप निराकार आत्मा है। और तुझे तेरा आचर्य ज्ञान कहेगा। इतने में इसका आचार्य आगया। उपकोसल को आचार्य ने पुकारा-हे उपकोशल!।

भगव इति ह प्रतिशुश्राव। ब्रह्मविद इव सोम्य! ते मुखं भाति। को नु त्वांनुशशासेति को नु मानुशिष्याद्भो इति हापवे निहनुतइमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्रीनभ्यूदे किन्नु सोम्य! किल तेऽवोचन्निति ॥ २॥

ब्रह्मचारी बोला—हे भगवन्! क्या आज्ञा है। आचार्य ने कहा—हे सोम्य ज्ञानी की भांति तेरा मुख प्रकाशमान है। किसने तुझे उपदेश दिया? शिष्य ने कहा—हे आचार्य! कौन मुझको सिखाये, इस प्रकार छुपाते हुए बोला—निश्चय इन

अग्नियों ने, इन जैसे स्वरूपों ने उपदेश दिया । इस प्रकार अग्नियों को उसने उपदेष्टा बताया । फिर गुरु ने पूछा—सोम्य उन्हों ने तुझे क्या ?

इदमिति ह प्रतिजज्ञे । लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथापुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

शिष्य ने (यह ज्ञान है,) ऐसे सारा सुना दिया । आचार्य ने कहा—हे सोम्य ! निश्चय से लोकों को ही उन्हों ने तुझे बताया । मैं तो तुझे वह ज्ञान कहूँगा जिसके जानने से, जैसे कमलपत्र में पानी लिप्त नहीं होते ऐसे ही इस प्रकार के ज्ञानी में पाप कर्म नहीं लिप्त होता । शिष्य ने कहा—भगवन् मुझे वह विद्या बताइये । उसको उसने कहा ।

चतुर्दश खण्ड समाप्तः ॥

पन्द्रहवां खण्ड ।

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच । एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

जो यह आंख में पुरुष दीखता है, यही आत्मा है । यह ही अमृत है, अभय है और यह ब्रह्म है । वह यद्यपि इस आंख में है परन्तु वह लिप्त नहीं होता । जैसे लोग आंख में घी अथवा

पानी सींचते हैं परन्तु वे आंख में नहीं रहते किन्तु किनारों को ही निकल जाते हैं ऐसे ही अन्तर्मुख होकर देखा हुआ पुरुष परम निर्लेप तथा स्वतंत्र है ।

एत संयद्वाम इत्याचक्षत एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति । सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

इस आत्मा को आत्मज्ञानी शोभाधाम ऐसा कहते हैं। क्योंकि इसको ही सारी शोभायें यथा सौन्दर्य्य सब ओर से प्राप्त होते हैं । जो ऐसा जानता है उसको सारी शोभायें प्राप्त होती हैं ।

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति । सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

और यह ही परमात्मा सौन्दर्यों का नेता है । क्योंकि यही सारे सौन्दर्य्यों को चला रहा है । जो ऐसे जानता है वह सारे सौन्दर्य्यों को चलाता है, सारे शुभ कर्म करता है ।

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति । सर्वेषु लोकेषुभाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तथा यह ही भगवान् प्रकाश वाला है । यह ही ज्योतिस्वरूप सारे लोकों में प्रकाशमान है । जो ऐसा जानता है वह मुक्त होकर सारे लोकों में प्रकाशमान हो जाता है ।

अथ यदु चैवास्मिंछव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदंगङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादि-

त्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥५॥ स एना-न्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः । एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ६ ॥

और जो हीं इसमें—दाहकर्म—करते हैं और नहीं करते हैं तो भी ब्रह्मज्ञानी मर कर ज्वाला सदृश अवस्था को पाते हैं। ज्वाला से दिन को, दिन से—शुक्लपक्ष—को, शुक्लपक्ष से जो छः उत्तर के मासों को सूर्य्य आता है उनको, मासों से वर्ष को, वर्ष से सूर्य्य को, सूर्य्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत् को ब्रह्मवेत्ता पाते हैं। ये अवस्थायें मुक्त पुरुष को प्राप्त होती हैं। विद्युत् सदृश तेजोमय धाम को पाकर वे मुक्त आत्मायें परम पुरुष भगवान् यह है ऐसा जान जाते हैं। वह ही इन भक्तों को ब्रह्म प्राप्त कराता है। यह देवपथ तथा ब्रह्मपथ है। इस देवमार्ग भगवान् को पाते हुए भक्त इस मनुष्यलोक को नहीं लौट कर आते; नहीं लौट कर आते।

पन्द्रहवां खण्ड समाप्तः ॥

सोलहवां खण्ड ।

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते। एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति। यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः । तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी ॥ १ ॥

निश्चित रूप से यह ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही यज्ञ है जो यह अपने उपदेश से संसार को पवित्र करता है। यह उपासक ही

है जो इस सारे संसार को पवित्र करता है। जो यह जिस कारण इस सारे को पवित्र करता है उससे यह ही यज्ञ है। उस उपासक के पवित्र करने वाले मन और वाणी दो साधन—हैं।

तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा। वाचा होताऽध्वर्युरुद्गातान्यतराम्। स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ २ ॥

द्रव्यमय यज्ञ को भी उपासक ही शुद्ध करता है। इस कारण इसमें भी उपासक ही यज्ञ है। ब्रह्मा उन दो मार्गों में से एक मार्ग मन से संस्कार करता है; वह मौनभाव से विधि कराता है। होता, अध्वर्यु और उद्गाता दूसरे वाणी के मार्ग से संस्कार करता है। वह ब्रह्मा जहां यज्ञ में कार्य के आरम्भ में, प्रातः पाठ के आरम्भ में और होम करने की अन्तिम ऋचा से पहले यदि बोलता है तो दोषी हो जाता है।

अन्यतरामेव वर्तनीं संस्करोति हीयतेऽन्यतरा। स यथैकपाद्व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञं रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति। स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥३॥

यदि ब्रह्मा बोल पड़े तो वह वाणी-के ही मार्ग से यज्ञ करता है; उसका दूसरा मन का मार्ग नष्ट हो जाता है। जैसे कोई मनुष्य एक पाँव से चलता हुआ वा एक पहिये से चलता हुआ रथ नष्ट हो जाता है ऐसे ही ब्रह्मा का यज्ञ नष्ट हो जाता है। यज्ञ के नाश होते हुए यजमान भी नष्ट हो जाता है। वह ऐसे दोषयुक्त यज्ञ को करके पापिष्ट हो जाता है।

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युभे एव वर्तनी संस्कुर्वन्ति, न हीयतेऽन्यतरा ॥४॥ स तथोभयपाद् व्रजन्नथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति । यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनु प्रतितिष्ठति । स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥५॥

और जहां यज्ञ में, कार्यारम्भ में, प्रातः पाठ में और अन्तिम ऋचा से पहले ब्रह्मा नहीं बोलता वहां याचक दोनों ही मार्गों को पवित्र करते हैं; दोनों साधनों से यज्ञ करते हैं; उन में से कोई नहीं हीन होता। जैसे कोई मनुष्य दोनों पांव से चलता हुआ वा दोनों पहियों से चलता हुआ रथ स्थिर रहता है ऐसे ही ब्रह्मा का यज्ञ श्रेष्ठ हो जाता है ।

षष्ठदश खन्ड समाप्तः ॥

सत्रहवां खण्ड

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेषां तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादित्यं दिवः ॥१॥

प्रजापति परमेश्वर ने लोकों को अपनी शक्ति से तपाया, उन तपायमान लोकों से उसने सार उद्धृत किये । उसने पृथिवी से अग्नि को, आकाश से वायु को और तेजोमयलोक से सूर्य्य को निकाला ।

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत् तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत् अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥ २ ॥

तदनन्तर परमेश्वर ने ये अग्नि, वायु, आदित्य तीन देवता तपाये। उसने उन तपायमान देवताओं से सार उद्धृत किये, अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य्य से साम मंत्र।

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् । तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहत् । भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥ तद्यदृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात् । ऋचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥४॥

उस भगवान् ने इस त्रयी विद्या को तपाया, स्तुति, कर्म, उपासना रूप से निचोड़ा। उस तपायमान विद्या से उसने सारों को उद्धृत किया। भूः यह ऋचाओं से, भुवः यह यजुर्मंत्रों से और स्वः ये सामगीतों से। ये तीन व्याहृतियां तीन वेदों के सार हैं। सो यदि ऋग्वेद के पाठ से दूषित हो तो भूः स्वाहा यह कह कर गार्हपत्य अग्नि में होम करे। ऋचाओं ही के उस सार से, ऋचाओं के सामर्थ्य, से ऋचाओं के यज्ञ का दोष पूरा हो जाता है।

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयात् । यजुषामेव तद्रसेन, यजुषां वीर्येण, यजुषां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥ ५ ॥ अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात् । साम्नामेव तद्रसेन, साम्नां वीर्येण, साम्नां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥ ६ ॥

और यदि यजुः कर्म से दूषित हो तो भुवः स्वाहा यह कहकर दक्षिण अग्नि में होम करे। वह दोष दूर होजायगा। ऐसे

ही यदि-सामगायन से-दूपित हो तो स्वः स्वाहा यह कहकर आह-वनीय में होम करे। साम सामर्थ्य से साम के यज्ञ का दोप पूरा हो जाता है। वेदपाठ में जो दोप हो जावे उसका यह प्राय-श्चित है।

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्सुवर्णेन रजतम्, रजतेन त्रपु, त्रपुणा सीसम्, सीसेन लोहम्। लोहेन दारु, दारु चर्मणा ॥७॥ एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति । भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥ ८ ॥

सो जैसे लवण से सोने को कोई जोड़े, सोने से चांदी को, चांदी से त्रपु को, त्रपु से सीसे को सीसे से लोहे को, लोहे से लकड़ी को और चर्म से लकड़ी को कोई जोड़े वा वान्धे, ऐसे ही इन लोकों के, इन देवताओं के और इस त्रयी विद्या के सामर्थ्य से ब्रह्मा यज्ञ के दोष को जोड़ देता है। जिस यज्ञ में ऐसा जानने वाला ब्रह्मा होता है निश्चय से यह यज्ञ औषधि स्वरूप है।

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवं-विदᳬ ह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्त-द्गच्छति ॥९॥

यह ही उत्तरायण से ले जाने वाला यज्ञ है: जहां ऐसा सर्व कर्मवेत्ता ब्रह्मा होता है। ऐसा जानने वाले ब्रह्मा की ही यह गाथा कही है, उसका यह सामर्थ्य है कि यह जहां जहां से पीछे लौटता है वह वह दोष दूर हो जाता है।

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳ सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥१०॥

जैसे उत्तम वंश की घोड़ी कुरुवंशियों को बचाती ऐसे ही ऐसा जानने वाला, एक ही मननशील ब्रह्मा ऋत्विजों की रक्षा करता है। निश्चय से ब्रह्मा ही यज्ञ को, यजमान को और सारे ऋत्विजों को बचाता है; उनमें कोई दोष त्रुटी नहीं रहने देता। इसी कारण ऐसा जानने वाले को ही ब्रह्मा बनावे। ऐसा न जानने वाले को न बनावे।

सतरहवां खन्ड समाप्तः ॥

प्रपाठक पांचवां (पहला खण्ड)

ॐ। यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥१॥

निश्चय से जो मनुष्य बड़े और उत्तम को जानता है वह निश्चय से बड़ा और उत्तम हो जाता है। मनुष्य शरीर में प्राण ही, जीवन की शक्ति तथा सामर्थ्य ही बड़ा और उत्तम है।

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥२॥

निश्चय से जो उपासक श्रेष्ठ को जानता है, आच्छादक तथा धनाढ्य को जानता है वह अपने जनों में श्रेष्ठ ही हो जाता है। मनुष्य के मुख में वाणी ही श्रेष्ठ है।

योो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥३॥

निश्चय से जो उपासक प्रतिष्ठा को, जानता है वह इस लोक में और परलोक में प्रतिष्ठित होजाता है । आंख ही प्रतिष्ठा है ।

यो ह वै संपदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुश्च श्रोत्रं वाव संपत् ॥४॥

निश्चय से जो उपासक सम्पत् को, धन समृद्धि को जानता है मानुषी मनोरथ भली भांति प्राप्त होते हैं । श्रोत्र ही सम्पत् है । कानों से सुनकर आत्मिक और व्यावहारिक ज्ञान की सम्पत्ति प्राप्त की जाती है ।

यो ह वै आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वनां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥५॥

निश्चय से उपासक आश्रय वा घर को जानता है वह अपने जनों का आश्रय ही हो जाता है । निश्चय से मनुष्य का मन ही सारे ज्ञानों तथा कर्मों का आश्रय है ।

अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳश्रेयानस्म्यहꣳश्रेयानस्मीति ॥६॥

देह में कौन शक्ति श्रेष्ठ है । इस पर यह आख्यायिका है एक समय इन्द्रियादि प्राण, मैं बड़ा हूँ, इस विषय में, मैं बड़ा हूं मैं श्रेष्ठ हूं ऐसे परस्पर विवाद करने लगे ।

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ

इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥७॥

वे प्राण प्रजापति पिता के पास पहुँच कर बोले भगवन्! हमारे में कौन श्रेष्ठ है ? उनको वह बोला—तुम्हारे में से जिसके निकल जाने पर शरीर मृत सा दीख पड़े, वह तुम्हारे में श्रेष्ठ है।

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथाकला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

प्रजापति से यह सुन कर वह वाणी देह से बाहर निकल गई। वह वर्षभर बाहर रह कर फिर शरीर के समीप आकर अन्य प्राणों को बोली—तुम मेरे विना कैसे जीवित रह सके ? उन्होंने कहा—जैसे गूंगे न बोलते हुए, घ्राण इन्द्रिय से सांस लेते हुए, आँखसे देखते हुए, कानसे सुनते हुए और मन से विचारते हुए जीते रहते हैं ऐसे वाणी अपनी अश्रेष्ठता को जान कर शरीर में प्रविष्ट हो गई।

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥ श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः

प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥

तदनन्तर आंख की शक्ति वाहर निकल गई। वर्ष भर रह कर फिर आकर उसने पूछा तो उसे वताया गया जैसे अन्धे न देखते हुए, नाक से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, कान से सुनते हुए और मन से विचारते हुए जीते रहते हैं ऐसे हम जीवित रहे। तब आंख भी प्रविष्ट हो गई। ऐसे ही श्रोत्र इन्द्रिय भी।

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा वाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥११॥

फिर मन निकला। वर्ष के अनन्तर उसने आकर पूछा तो उसे वताया गया जैसे वालक मन विना, नाक से प्राण लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, आंख से देखते हुए, कान से सुनते हुए रहते हैं ऐसे ही हम जीवित रहे। मन भी देह में प्रविष्ट हो गया।

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्त्स यथा सुहयः पड्वीशशंकून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥१२॥

तत्पश्चात् प्राण-निकलने लगा। जैसे कशा से ताड़ा हुआ उत्तम घोड़ा पांव वांधने के खूंटो को उखाड़े ऐसे ही प्राणने

अन्य सारे प्राणों को चलायमान कर दिया। तब सारे प्राण उसके पास आकर बोले-भगवन् ? हमारा स्वामी बन। हमारे में तू ही श्रेष्ठ है। यहाँ से न निकल।

प्राण से यहां जीवन शक्ति ली गई है। उस शक्ति का साँस के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी कारण प्राण और जीव को यहां एक ही वर्णन किया है।

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति ॥१३॥ अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मित्वं तदायतनमसीति॥१४

तदनन्तर उसको वाणी ने कहा-जो मैं वसिष्ट हूँ वह तूही वसिष्ट है, मेरी अन्छादनशक्ति तेरे आश्रित है। तब इसको आंख ने कहा-जो मैं प्रतिष्ठा हूँ वह तूही प्रतिष्ठा है। तदनन्तर इसको कान ने कहा-जो मैं सम्पदा हूँ वह तू ही सम्पद् है। फिर इसे मन ने कहा-जो मैं आश्रय हूँ वह तूही आश्रय है।

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति ॥१५॥

निश्चय से न वाणियां, न नेत्र न श्रोत्र, न मन ऐसा कहते हैं किन्तु इनको प्राण हैं, यह ही कहते हैं। इन्द्रियों में प्राण ही इन शक्तियों के रूप में प्रकट होता है।

प्रथम खण्ड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड ।

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति ? यत्किंचिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुः । तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् । न ह वा एवं विदि किंचनानन्नं भवतीति ॥१॥

वह प्राण बोला—मेरा अन्न-खाद्य पदार्थ-क्या होगा ? उन्होंने कहा-जो कुछ अन्न श्व से लेकर पक्षियों तक का है, वह ही इस प्राण का अन्न है। निश्चय से प्राण का अन नाम प्रसिद्ध है। निश्चय ऐसा जानने वाले के समीप कुछ भी अखाद्य पदार्थ—नहीं होता ।

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीति ? आप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति । लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति॥ २ ॥

वह प्राण बोला—मेरा वस्त्र क्या होगा ? उन्हों ने उसे कहा-जल ही । इस कारण ही इस अन्न को खाता हुआ उपासक पहले तथा भोजनानन्तर जल से परिधान करता है अन्न को जल से आचमन करके आच्छादित करता है। यह जल लम्भनरूप अवलम्भनरूप-वस्त्र हो जाता है। इससे प्राण नग्न नहीं रहता।

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिंछाखाः, प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३ ॥

वह यह उपदेश सत्यकाम जाबाल ने व्याघ्रपद के पुत्र

गोश्रुति को देकर कहा—यदि कोई गुरु यह उपदेश सूखे पेड़ को कहे तो उसमें भी शाखाएं उत्पन्न हो आवें और पत्र फूट निकलें। यह प्राण विद्या श्रद्धाविश्वासहीन मनुष्य को भी उपासक बनाने का सामर्थ्य रखती है।

अथ यदि महज्जिगमिषेत् । अमावस्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥४॥

और यदि महत्व को पाना चाहे, तो अमावस्या की रात में दीक्षा लेकर उसी मास की रात में, सर्व औषध नामक बूटी के रस को दधि और मधु के साथ घोटकर जेष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा ऐसा कह कर अग्नि में घृत का हवन करके स्रुवे से लगा हुआ घृत उस मन्थ में टपका देवे ।

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत। प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् । संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् । आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ५ ॥

वसिष्ठाय स्वाहा कहकर घृत का हवन करे और शेष मन्थ में डाले। प्रतिष्ठायै स्वाहा कह कर अग्नि में घृत का हवन करे और शेष मन्थ में डाले। ऐसे ही संपदे स्वाहा और आयतनाय स्वाहा कहकर कर्म करे।

अथ प्रतिसृप्यांजलौ मन्थमाधाय जपति । अमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाऽधिपतिः ।

स मा ज्यैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयतु । अहमेवेदं सर्वमसानीति ॥ ६ ॥

होम के पश्चात् अग्नि के पास जाकर, अंजलि में मन्थ लेकर जप करे । हे परमेश्वर तू असीम—नाम वाला है; तेरा नाम अनन्त—है । निश्चय से तेरा यह सारा जगत् अनन्त है । वह ही तू ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, राजा है और स्वामी है । तू मुझे बड़ाई, उत्तमता, राज्य और स्वामित्व प्राप्त करा । मैं महान, सर्व श्रेष्ठ आदि हो जाऊं ।

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति, तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति, वयं देवस्य भोजनमित्याचामति, श्रेष्ठं सर्वधातममित्याचामति, तुरं भगस्य धीमहीति, सर्वं पिबति ॥७॥ निर्णिज्य कंसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा । वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥८॥

तदन्तर निश्चय से आगे कहे मन्त्र को पढ़कर इस ऋचा से आचमन करे । हम उपासक उस सृष्टि कर्त्ता देव के दिये भोजन को अङ्गीकार करते हैं । उसका दिया अन्न श्रेष्ठ है और सर्वपुष्टिप्रद है । हम भगवान् के तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते हैं । अन्त में सारा मन्थ पी ले । तत्पश्चात् कंसपात्र को और चमचे को धोकर रख देवे और आप अग्निकुण्ड के पीछे चर्मासन पर वा भूमि पर बैठ जावे । वाणीको वशमें किये हुए निर्भय वहीं जप करता हुआ सो जावे । वह उपासक यदि स्वप्न में स्त्री को देखे तो कर्म सफल हुआ जाने ।

तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने, तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥९॥

इस पर यह श्लोक है। जब काम्य कर्मों की उपासना में स्वप्न में स्त्री को देखे तो वहां उस स्वप्न दर्शन में कार्यसिद्ध ही जाने।

द्वितीय खन्ड समाप्तः॥

तीसरा खण्ड।

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पंचालानाꣳ समितिमेयाय तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥१॥

आरुणि ऋषि का पुत्र, श्वेतकेतु पञ्चाल देश के क्षत्रियों की सभा में आया। उसको प्रवाहण जैवलि राजा ने कहा—हे कुमार! क्या तुझे तेरे पिताने शिक्षा दी? यह सुनने के अनन्तर उसने उत्तर दिया—निश्चय से, भगवन्! उसने मुझे शिक्षा दी है।

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्तन्ता३ इति न भगव इतिवेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना३ इति न भगव इति ॥२॥

राजाने कहा—हे श्वेतकेतु! जैसे यहाँ से मर कर परलोक को प्रजाएँ जाती हैं वह तू जानता है? उसने कहा—भगवन्!

मैं नहीं जानता । राजाने कहा—जैसे जीव फिर जन्म में आते हैं वह तू जानता है ? उसने उत्तर दिया—भगवन् ! मैं नहीं जानता राजा ने कहा—देवयान के और पितृयाण के मार्गों की भिन्नताको तू जानता है ? उसने उत्तर दिया—भगवन् ! मैं नहीं जानता ।

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यता३ इति न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति ॥३॥

फिर राजाने कहा—जैसे यह लोक अर्थात् परलोक जीवों से नहीं भरता वह तू जानता है ? उसने उत्तर दिया—भगवन् ! मैं नहीं जानता । राजाने कहा—जैसे पाँचवीं आहुति में हवन किया हुआ जल पुरुष के वचन का हो जाता है, गर्भाधान में जैसे पुरुषाकृति बन जाती है वह तू जानता है ? उसने उत्तर दिया—भगवन् ! मैं नहीं जानता ।

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथाः । यो हीमानि न विद्यात् कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । स हायस्तः पितुरर्द्धमेयाय तं होवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनुत्वाऽशिषमिति ॥ ४ ॥

तदन्तर फिर राजा ने कहा—अपने आपको आप कैसे सुशिक्षित कहते हैं । जो मनुष्य इन प्रश्नों को नहीं जानता, कैसे वह अपने आपको सुशिक्षित कहे । वह श्वेतकेतु प्रवाहण राजा से परास्त होकर अपने पिता के स्थान पर चला आया और पिता को बोला—भगवन् ! विना शिक्षा दिये ही मुझ को कहा, कि तुझ को सिखा दिया ।

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकंचनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदेतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥५॥

क्षत्रिय बन्धु ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे परन्तु उनमें से एक को भी मैं कहने में समर्थ नहीं हो सका, आरुणि बोला-जैसे मुझको तूने वे प्रश्न कहे। मैं भी उनमें से एक के उत्तर को नहीं जानता, यदि इनको जानता होता तो कैसे तुझे न बतला देता।

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय । तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार । स ह प्रातः सभाग उदेयाय । तं होवाच-मानुषस्य भगवन् गौतम ! वित्तस्य वरं वृणीथा इति । स होवाच-तवैव राजन् ! मानुषं वित्तम् । यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति ॥ ६ ॥

वह आरुणि गौतम पुत्र से प्रश्न सुनकर उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिये उस राजा के स्थान में चला आया उसकी राजा ने उस आये हुये की पूजा की। वह गौतम प्रातःकाल सभा में राजा के पास आया। उसको राजा ने कहा-हे पूज्य गौतम ! मनुष्य सम्बन्धी धन के वर को मांग। गौतम ने कहा हे राजन् ! तेरा ही मानुष धन हो वह मुझे नहीं चाहिये। जिस बात को आपने मेरे पुत्र कुमार के समीप कही थी वह ही मुझे कहें।

स ह कृच्छ्री बभूव । तं ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार । तं होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः

पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रियस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥७॥

गौतम की प्रार्थना सुनकर राजा दुखी हो गया। परन्तु सोच विचार कर उसने उसको आज्ञा दी कि तू चिरकाल तक वृत धारण करके यहां रह। नियत समय पर राजा ने उसे कहा— जैसे, हे गौतम! मुझको तूने कहा, मैं वह विद्या तुझको देने को समुद्यत हूँ। परन्तु वह विद्या, पूर्वकाल में, तुझ से पहले ब्राह्मणों को नहीं प्राप्त होती थी। उससे सारे देशों में क्षत्रियों का ही इस पर अधिकार था; यह महिमा बताकर उसको राजा बोला।

तृतीय खन्ड समाप्तः ॥

चौथा खण्ड।

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्र-श्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगाः॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥२॥

हे गौतम! वह प्रकाशमय लोक ही अग्नि है, उस अग्नि की सूर्य ही समिधा है। उसका धूआं सूर्य की किरणें हैं। दिन उसकी ज्वाला है, चन्द्रमा उसका अंगारा है, उसकी चिनगारियां नक्षत्र हैं। देवलोक इस अग्नि में श्रद्धा को चरु बना कर होम करते हैं। उस श्रद्धा की आहुति से मनुष्य के मन में सोम राजा उत्पन्न।

होता है, द्युलोक का सम्पूर्ण व्यापार परमेश्वर के नियम में एक महान् हवन है। यह यज्ञ श्रद्धा से ही समझ में आता है।

चतुर्थ खन्ड समाप्तः ॥

पांचवां खण्ड ।

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरंगारा ह्रादुनयो विस्फुलिंगाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवति ॥ २ ॥

हे गौतम ! मेघ ही अग्नि है। उसकी वायु ही समिधा है उसका धूआं मेघ है, बिजली उसकी शिखा है, गिरने वाली बिजली उसका अंगारा है, गर्जनाएं उसकी चिनगारियां हैं। उस अग्नि में देवजन सोम राजा को आह्वान करते हैं, वर्षा के लिये भगवान् के आगे प्रार्थना करते हैं। उस प्रार्थना की आहुति से वर्षा होती है।

पञ्चम खण्ड समाप्तः ॥

छठा खण्ड ।

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिंगाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति ॥ २ ॥

हे गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है, परोपकार रूप यज्ञ का कुण्ड है। वर्षा काल ही उसकी समिधा है। आकाश उसका धूआं है, रात्रि उसकी ज्वाला है, दिशाएं उसके अंगारे हैं और विदिशाएं उसकी चिनगारियां हैं। उस अग्नि में देवजन वर्षा को आह्वान करते हैं, उस आहुति से रेतस् उत्पन्न होता है। पुण्यो-पार्जन का स्थान होने से भूमि यज्ञ की अग्नि है।

अष्टम खण्ड समाप्तः ॥

सातवां खण्ड

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरंगाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है, यज्ञ स्थान है, उसकी वाणी ही समिधा है, परोपकार रूप अग्नि प्रचण्ड करने को ईन्धन है। प्राण उसका धूआं है, जिह्वा उसकी ज्वाला है, नेत्र उसके अंगारे हैं और श्रोत्र उसकी चिनगारियां हैं। उस इस अग्नि में देवजन अन्न को चरु बना कर हवन करते हैं, उस आहुति से रेतस् उत्पन्न होता है।

सप्तम खण्ड समाप्तः ॥

आठवाँ खण्ड

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥२॥

हे गौतम ! स्त्री ही गृहस्थ धर्म की अग्नि है। उसके संयोग से संसार का यज्ञ कर्म होता है पत्नियों में पति लोग सन्तान का कारण स्थापन करते हैं। उसी से गर्भ होता है। सन्तान दान से स्त्री का जीवन भी यज्ञस्वरूप ही है।

नवाँ खण्ड

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥१॥

इस पाँचवीं आहुति में जल-रेतस-पुरुष वाची होता है। यह एक प्रश्न का उत्तर हुआ। वह उल्व में लिपटा हुआ गर्भ दस अथवा नव मास तक माता के उदर में सोकर जब समय होता है तब उत्पन्न होजाता है।

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति । यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥२॥

वह जन्मा हुआ जितनी आयु नियत हो तब तक जीता है। अन्त में जब वह मर जाता है तो उस मरे हुए को यहां से (अग्नियां ही) ईश्वरीय शक्तियां ही नियत निर्दिष्ट स्थान को ले जाती हैं। जिसकी प्रेरणा से जीव आया था, जिस शक्ति से वह उत्पन्न होता है, उसी से निर्दिष्ट स्थान में कर्मानुसार जाता है।

नवम खण्ड समाप्तः ॥

दसवां खण्ड

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्केति मासाँस्तान् ॥१॥ मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥२॥

वे जो इस प्रकार भगवान् के नियम को जानते हैं और बन में श्रद्धा तप में रत रहते हैं वे ज्योति में जाते हैं। ज्योति से दिन में, दिन से शुक्लपक्ष में, शुक्लपक्ष से जो छः मास सूर्य उत्तर को जाता है उनको, मासों से वर्ष को, वर्ष से आदित्य को, आदित्य से चन्द्र को और उसके उपरान्त विद्युत् सदृश धाम को जाते हैं। वह तेजोमय पुरुष अमानव है, मनुष्य नहीं है; वह परम प्रकाशमय पुरुष इन उपासकों को ब्रह्म में ले जाता है; यह देवयान मार्ग है।

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैतिमासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥३॥

और जो ये उपासक लोग ग्राम में रह कर सकाम कर्म करते हैं वैदिकयज्ञ और कूआ, तालावआदि वनवाते तथा दान करते हैं वे मर कर धूएं के समान सूक्ष्मशरीर में रहते हैं। उससे रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से जो छः मास सूर्य दक्षिण को जाता है उन मासों को प्राप्त हैं। परन्तु सकामकर्म करने वाले ये उपासक वर्ष को नहीं प्राप्त होते। सकाम कर्म से सदा प्रकाशमान रहने वाले लोक को जीव नहीं जाते।

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥४॥

मासों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। यह ही सोम राजा है; यहां ही कर्मफल देने वाला ईश्वर प्रियस्वरूप राजता है। वह देवों का अन्न, भोग विधान करता है। उसी कर्मफल को देव भोगते हैं।

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुम्, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥

उस चन्द्रलोक में जितने वर्ष की नियति हो नियति तब तक रह कर फिर इसी ही मार्ग को पीछे लौट आते हैं। जैसे इस आकाश

को, आकाश से वायु को, वायु होकर धूम्र होता है। धूम्र होकर बादल बनता है।

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति, यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति ॥६॥

बादल बन कर मेघ हो जाता है, मेघ होकर बरसता है। अनन्तर यहां वे चावलादि धान्य, औषधियां, वनस्पतियां तिल उड़द आदि उत्पन्न होते हैं। निश्चय से इससे निकलना कठिन है; क्योंकि अन्न में जीवन है। जो जो मनुष्य अन्न को खाता है और जो रेतस् सींचता है उस से दुबारा ही गर्भ हो जाता है; गर्भ ही चन्द्र से लौटते प्राणी के जन्म का स्थान है। और वह गर्भ अन्न से उत्पन्न हुए रेतस् से बनता है।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥७॥

वे जो इस लोक में शुभ आचरण वाले हैं तत्काल ही उस शुभ कर्म के प्रभाव से वे शुभ जन्म को पाते हैं; जैसे ब्राह्मणजन्म को, क्षत्रियजन्म को तथा वैश्यजन्म को। यहां वैश्य में ही चौथा वर्ण परिगणित किया गया है और जो इस लोक में निन्दित आचरण वाले हैं, शीघ्र ही वे नीच जन्म को पाते हैं, जैसे कुत्ते

के जन्म को सूकर के जन्म को तथा चाण्डाल-महापापी-के जन्म को।

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्य-सकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व म्रियस्वेयेतत्तृतीयं स्थानम् । तेनासो लोको न सपूर्यते, तस्माज्जुगुप्सेत । तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

और जो जीव इन दोनों मार्गों में से किसी भी मार्ग से नहीं जाते वे ये क्षुद्र वार बार मरने जन्मने वाले जीव हैं। यह तीसरा स्थान है जो-जन्मो-और मरो इस नाम से प्रसिद्ध है। इससे लोक नहीं भरने पाता।

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् । ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति ॥ ९ ॥

सोने का चोर, मदिरापान करने वाला, गुरु की शय्या पर रहने वाला-गुरु पत्निभोगी, ब्राह्मण को मारने वाला ये चार और पांचवां उन चारो के साथ रहने वाला ये पांच जीने और मरने में गिरते हैं।

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते, शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति, य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥

और जो उपासक इन पांच अग्नियों को ऐसे जानता है; पूर्वोक्तविधि से समझता है वह ज्ञानी उपासक उन महापापियों

के साथ रहता हुआ भी पाप से नहीं लिप्त होता जो उपासक इस मर्म को ऐसे जानता है वह शुद्ध पवित्र होकर उत्तम लोकवान् हो जाता है ।

दशम खण्ड समाप्तः ॥

ग्यारहवां खण्ड

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाᳬसां चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति ॥१॥

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषि का पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लवि का पुत्र इन्द्रद्युम्न शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्वि का पुत्र बुडिल, वे ये बड़ी शालाओं वाले और महाज्ञानी मिल कर विचारने लगे । हमारा आत्मा कौन है ? ब्रह्म क्या वस्तु है ?

ते ह संपादयांचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तᳬ हन्ताभ्यागच्छामेति तᳬ हाभ्याजग्मुः ॥२॥

उन्होंने निश्चय किया कि यह प्रसिद्ध अरुणवंशीय उद्दालक ऋषि ही, इस समय इस विश्व में विद्यमान आत्मा को जानता है । अब हम भगवन्तो ! उसके पास चलें । वे उसके पास गये ।

स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महा-

श्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥३॥

उन समागत विद्वानों को देख कर उसने निश्चय किया कि ये महाशाला वाले, महाज्ञानी मुझ से प्रश्न पूछेंगे। उनके उत्तरों के लिये मैं सर्व प्रकार से नहीं समर्थ होऊंगा। इस कारण मैं उनको अन्य उत्तरदाता बताऊं।

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोयं कैकयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति तꣳ हाभ्याजग्मुः॥४॥

उद्दालक ने उनको कहा—भगवन्! यह केकय का पुत्र अश्वपति ही इस समय वैश्वानर आत्मा को जानता है। अब उसके पास चलें। वे उसके पास गये।

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार स ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुत यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ॥५॥

उस अश्वपति राजा ने उन आये हुए विद्वानों की पृथक् पृथक् पूजा करवाई वह प्रातःकाल उठकर उनके पास गया और बोला—मेरे देश में न चोर है, न कोई कृपण है, न मदिरा पीने वाला है, न कोई अग्निहोत्र रहित है, न कोई अपढ़ है, न कोई व्यभिचारी है और जब कोई भी पुरुष व्यभिचारी नहीं तो स्त्री व्यभिचारिणी कहां से हो। ऐसे पुण्यदेश में

हे पूज्यवरो ! मैं यज्ञकरने वाला हूं। आप उसमें ऋत्विज बनिए। जितना एक एक ऋत्विज को धन मैं दूंगा उतना उतना ही पूज्यवरों को दूंगा। आप मेरे स्थान में रहिए।

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳहैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳ संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥६॥

वे उसे बोले—हे राजन् ! जिस प्रयोजन से पुरुष किसी के पास जाय वह ही कहे तो अच्छा है। हमारा प्रयोजन दक्षिणा लेना नहीं है। इस विश्व में विद्यमान आत्मा को आप इस समय जानते हैं। वह ज्ञान ही हमें बताइए।

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्ले प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥७॥

वह उनको बोला—कल प्रातःकाल आपको मैं उपदेश दूंगा। वे समिधा हाथ में लिये अगले दिन सवेरे उसके पास गये। उसने उनको विना उपनयन किये यह कहा।

एकादशो खण्ड समाप्तः ॥

बारहवां खण्डः ॥

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति ? दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

हे औपमन्यव ! तू किस आत्मा की उपासना करता है; तेरी आत्मा के विषय में कैसी धारणा है ? उसने उत्तर दिया हे भगवन ! राजन् ! प्रकाशमय की ही मैं उपासना करता हूं । राजा ने कहा—निश्चय यह शुभ्रप्रकाशमय आत्मा विश्व में विद्यमान है जिस आत्मा की तू उपासना करता है इसी कारण तेरे कुल में रस, अच्छे रस और उत्तमरस दीखते हैं ।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

तू उस स्वादु अन्न को परमेश्वर के आशीर्वाद से खाता है, प्रियवर्ग को देखता है । जो मनुष्य इस वैश्वानर आत्मा की ऐसे उपासना करता है वह भी, उसके आर्शीवाद से स्वादु अन्न को खाता है और प्रियवर्ग को देखता है । उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है । अश्वपति ने कहा—परन्तु यह आत्मा का सिर है; ऊंचा एकांशी भाव है । तेरा सिर गिर जाता यदि तू मेरे पास न आता ।

द्वादश खण्ड समाप्तः ॥

तेरहवां खण्ड ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष व विश्व-

रूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

फिर वह सत्ययज्ञ पौलुषि को बोला-हे प्राचीनयोग्य ! तू किस आत्मा की उपासना करता है ? उसने कहा-हे भगवन् राजन् ! आदित्यवर्ण की ही मैं उपासना करता हूं राजा ने कहा-जिस आत्मा की तू उपासना करता है वह यह ही विश्वरूप-विश्व का प्रकाशक-आत्मा वैश्वानर है। इस कारण उसी के आशीर्वाद से तेरे कुल में बहुत नानारूप से भोग्य पदार्थ दीखते हैं।

प्रवृत्तोश्वतरीरथोदासीनिष्कोऽस्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

उसी के अनुग्रह से तेरे पास अश्वतरीयुक्त रथ है, दासी सहित हार विद्यमान है और तू अन्न को खाता है, प्रियजनों को देखता है। जो इस ही वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह भी अन्न को खाता है, प्रियजनों को देखता है और उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। अश्वपति ने कहा—परन्तु यह आत्मा का नेत्र है; एकांश है परन्तु ज्ञानमय भाव है। तू अन्धा होजाता जो प्रभु का अखण्ड स्वरूप जानने के लिये मेरे पास न आता।

त्रयोदश खण्ड समाप्तः ॥

चौदहवां खण्ड ।

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम् । वैयाघ्रपद्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति । वायुमेव भगवो राजन्निति होवाच । एष वै पृथग्वत्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । दस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेण्योऽनुयन्ति ॥१॥

तत्पश्चात् उसने इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय को कहा-वैयाघ्रपद्य ! तू किस आत्मा को उपासता है ? वह बोला-हे भगवन् राजन् ! वायु को ही मैं आराधता हूँ; प्राणरूप परमेश्वर को मैं उपासता हूँ। राजा ने कहा-जिस आत्मा को तू आराधता है वह यह ही पृथगवर्त्मा-सर्वत्र विद्यमान-वैश्वानर आत्मा है। उसी के अनुग्रह से तेरे पास नाना भेंटें आती हैं और नानारथश्रेणियां तेरे पीछे चलती हैं।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच । प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न को खाता है और प्रियजनों को देखता है जो इस प्राणस्वरूप, वैश्वानर आत्मा को ऐसे उपासता है वह भी अन्न को खाता है और प्रियजनों को देखता है। उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है।अश्वपति ने कहा-यह आत्मा का प्राण है। तेरा प्राण देह से बाहर निकल जाता है यदि भगवान् का अखण्डरूप जानने के लिये तू मेरे पास न आता।

चतुर्दश खण्ड समाप्तः ॥

पन्द्रहवां खण्ड ।

अथ होवाच जनं शार्कराक्ष्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति ? आकाशमेव भगवो राजन्निति होवाच । एष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥१॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच । सन्देहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

फिर राजा ने जन से पूछा तो उसने बताया मैं निराकार ईश्वर की उपासना करता हूं । तब राजा ने कहा—यह बहुल-अनन्त—संज्ञक वैश्वानर आत्मा है । उसका अनुग्रह है तू प्रजा और धन से विस्तृत है । परन्तु यह आत्मा का मध्य भाग है, धड़ है । तेरा धड़ छिन्नछिन्न हो जाता यदि तू अखण्ड भगवान् को जानने के लिए मेरे पास न आता ।

पन्द्रहवां खण्ड समाप्तः ॥

सोलहवां खण्ड ।

अथ होवाच—बुडिलमाश्वतराश्विम् । वैयाघ्रपद्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति ? अप एव भगवो राजन्निति होवाच एष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वं रयिमान्पुष्टि मानसि ॥१॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वा-

नर मुपास्ते वस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच वस्तिस्ते व्यभे-
त्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

फिर उसने बुडिल, आश्वतराश्वि को कहा हे वैयाघ्रपद तू! किस आत्मा की उपासना करता है ? उसने कहा-जल में रहने वाले की। राजा ने कहा-यह रयिधन-संज्ञक वैश्वानर आत्मा है। उसकी कृपा से तू रयिमान् और पुष्टिमान् है परन्तु यह आत्मा की वस्ति है, उदरस्थ जलाशय है; ब्रह्म का सर्वस्वरूप नहीं है। तेरी वस्ति भेदन हो जाती यदि तू सर्वस्वरूप जानने के लिए मेरे पास न आता।

सोलहवां खण्ड समाप्त: ॥

सत्रहवां खण्ड

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्ते तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भ वत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच। पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नाग-मिष्य इति ॥ २ ॥

तदनन्तर राजा ने उद्दालक आरुणि को कहा-हे गौतम ! तू किस आत्मा की उपासना करता है ? उसने कहा-पृथिवी की राजाने कहा-यह प्रतिष्ठा-स्थिति-संज्ञक आत्मा है। उसके प्रसाद सेही

तू प्रजा से, पशुओं से प्रतिष्ठित है। परन्तु पृथिवी, आत्मा के दो पांव हैं। इससे आत्मा की महिमा जानी जाती है। तेरे दोनों पांव शिथिल हो जाते, यदि तू सर्वस्वरूप को जानने के लिये मेरे पास न आता।

सतरहवां खन्ड समाप्तः ॥

अठारहवां खण्ड ।

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाꣳसोऽन्नमात्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्न-मत्ति ॥ १ ॥

उन उपासकों को राजा ने कहा-निश्चय से आप सर्वत्र-विद्यमान्-आत्मा को भिन्न अंशों की भांति जानते हुए भी अन्न को खाते हैं; सुख से जीते हैं, सुख भोगते हैं। परन्तु जो उपासक इस सर्वाङ्गमय, सर्वत्र विद्यमान, वैश्वानर आत्मा को ऐसे आराधता है वह सारे लोकों में सारे प्राणियों में सब आत्माओं में, अन्न को खाता; सर्वत्र सुख भोगता है।

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्च-क्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनो-ऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

उस ही इस अखण्ड, सर्वत्रविद्यमान आत्मा का प्रकाश ही सिर के समान है। द्युलोक उसका मूर्द्धा है। विश्वरूप उसका नेत्र है, ब्रह्माण्ड की वायु-जीवन-शक्ति ही उसका प्राण है, अनन्त भाव ही उसका मध्य है, धन सम्पत्ति ही उसकी वस्ति है, पृथिवी ही उसके पांव हैं, वेदि ही उसकी छाती है, यज्ञकुश उसके लोम हैं, गार्हपत्य अग्नि उसका हृदय है, दक्षिणाग्नि उसका मन है और आहवनीय अग्नि उसका मुख है। वह वैश्वानर आत्मा, एक अखण्ड है, सर्वत्र विद्यमान है, प्रकाश स्वरूप है, सर्वज्ञ है, अनन्त है, धनों का स्वामी है और निराकार है; तथा यज्ञस्वरूप है।

अठारहवां खण्ड समाप्तः ॥

उन्नीसवां खण्ड ।

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳ स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥१॥ प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि स्तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्ततृप्यति तस्या नुतृप्तिं तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

वह जो उपासक को भोजन मिले, वह ही होम की वस्तु है। वह जिस पहली आहुति को हवन करे, उसको प्राणाय स्वाहा ऐसा कह कर हवन करे। उस से प्राण तृप्त होता है। प्राण

के तृप्त होते नेत्र तृप्त होता है, नेत्र के तृप्त होते सूर्य्य तृप्त होता है। सूर्य के तृप्त होते हुए प्रकाशमय लोक तृप्त होता है। प्रकाशमय लोक के तृप्त होते हुए जो कुछ द्यौः और सूर्य के आश्रित है वह तृप्त होता है। उसकी तृप्ति पर उपासक प्रजा से, भोग्य अन्न से, तेज से और ब्रह्मप्रकाश से तृप्त होता है। वैश्वानर के उपासक भोजन अमृतस्वरूप हो जाता है।

उन्नीसवाँ खण्ड समाप्तः ॥

बीसवां खण्ड।

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥१॥ व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

फिर जिस दूसरी आहुति को होम करे, उस समय उसको व्यानाय स्वाहा ऐसा कह कर हवन करे। इस से व्यानशक्ति, श्रवणशक्ति तृप्त होती है। व्यान के तृप्त होने पर श्रोत्र तृप्त होता है। श्रोत्र के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है। चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएं तृप्त होती हैं। उनके तृप्त होने पर जो कुछ दिशाओं के और चन्द्रमा के आश्रित है वह तृप्त होता है। उसकी तृप्ति पर यजमान सन्तान से, पशुओं से, खाने योग्य अन्न से तेज से तथा ब्रह्मतेज से तृप्त हो जाता है।

बीसवां खण्ड समाप्तः ॥

इक्कीसवां खण्ड ।

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥१॥ अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

तदनन्तर जिस तीसरी आहुति को हवन करे उसको अपानाय स्वाहा कह कर हवन करे। इससे अपान-बोलने की शक्ति तृप्त होती है। उसकी तृप्ति पर वाणी तृप्त होती है। उसकी तृप्ति पर अग्नि तृप्त होती है। अग्नि की तृप्ति पर पृथिवी तृप्त होती होती है। उसकी तृप्ति पर जो कुछ पृथिवी और अग्नि के आश्रित है वह तृप्त होता है।

इक्कीसवां खण्ड समाप्तः ॥

बाईसवां खंड ।

अथ यां चतुर्थी जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति, समानस्तृप्यति ॥ १ ॥ समाने तृप्यति मनस्तृप्यति, मनसि तृपति पर्जन्यस्तृप्यति, पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति, विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया, पशुभिरन्नाद्येन, तेजसा, ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

फिर जिस चौथी आहुति को हवन करे, समानाय स्वाहा कह कर हवन करे। इस से समान-मन की शक्ति तृप्त-शुद्ध-हो जाती है। उसकी तृप्ति पर मन शुद्ध होता है, फिर मेघ तदनन्तर बिजली तृप्त होती है। इस तृप्ति पर जो कुछ मेघ और बिजली के आश्रित है वह तृप्त होता है।

बाइसवाँ खण्ड समाप्तः ॥

तेईसवां खण्ड ।

अथ यां पंचमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥१॥ उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति, त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति, वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यति । आकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति । तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया, पशुभिरन्नाद्येन, तेजसा, ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

फिर जिस पांचवीं आहुति को हवन करे, उदानाय स्वाहा कह कर हवन करे। उससे उदान-शरीर की शक्ति-पुष्ट होती है। उससे त्वचा, फिर वायु, फिर आकाश तृप्त होता है।

तेईसवां खण्ड समाप्तः ॥

चौबीसवां खण्ड ।

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति, यथांगारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात् ॥ १ ॥ अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं

जुहोति, तस्य सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेष्वात्मसु हुत भवति ॥ २ ॥

वह जो इस वैश्वानर उपासना को न जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसका ऐसा मर्म, जैसे कोई अंगारों को दूर हटाकर भस्म में हवन करे, उस जैसा वह होता है। और जो उपासक इस वैश्वानर उपासना को ऐसे जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसका सारे लोकों में, सारे प्राणियों में और सब आत्माओं में हवन हो जाता है; उसको कुछ भी करना शेष नहीं रहता। ज्ञानी का सर्वत्र ही हवन है।

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति॥ ३ ॥ तस्मादु हैवं विद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳस्यादिति तदेष श्लोकः ॥ ४ ॥

जैसे मुंज की रुई आग में पड़ी हुई तुरंत भस्म हो जाती है इसी प्रकार वैश्वानर उपासना को ऐसे जानता हुआ अग्निहोत्र करता है सारे पाप भस्म हो जाते हैं। इसलिए ऐसा जानने वाला यदि चाण्डाल को भी उच्छिष्ट देवे तो इसका वह कर्म भी वैश्वानर आत्मा में ही हवन होजाता है। ऐसे जन के सारे कर्म अग्निहोत्र हो जाते हैं। वैश्वानर के उपासक के सर्वकर्म भगवान् का पूजन बन जाते हैं।

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवꣳ सर्वाणि

भूतान्यग्निहोत्रमुपासते इत्यग्निहोत्रमुपासते इति ॥ ५ ॥

इस लोक में जैसे भूखे बच्चे माता से सुखादि की याचना करते हैं, ऐसे ही सारे प्राणी अग्निहोत्ररूप वैश्वानर को उपासना करते हैं।

चौवीसवां खण्ड समाप्तः ॥

छठा प्रपाठक (पहला खण्ड) ।

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस । त ह पितोवाच-श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्य्यम् । न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥१॥

यह ऐतिहासिक कथा है कि पुराकाल में एक आरुणि मुनि का पुत्रश्वेतकेतु था। उसको पिता ने कहा—हे श्वेतकेतु ! तू ब्रह्मचर्य्य धारण करके आचार्य के समीप रह, विद्या अध्ययन कर । निश्चय से प्यारे ! हमारा कुलीन पुत्र वेदों को न पढ़ कर ब्रह्मबन्धुवत नहीं होता है हमारे वंश के पुत्र सभी वेदज्ञ होते हैं।

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विन्शतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय । तं ह पितोवाच–श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥२॥ येनाश्रुतं श्रुत भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥३॥

वह श्वेतकेतु बारहवर्ष गुरु के पास रह कर, जब चौबीस वर्ष का हुआ तो, सारे वेद पढ़कर, बड़ा मनस्वी, अपने आप को वेदज्ञ मानने वाला और हठी बनकर अपने पिता के पास आया। उसको उसके पिता ने कहा—हे प्यारे श्वेतकेतु तू जो महा मनस्वी, पंडिताभिमानी, हठी हो रहा है। क्या तूने अपने आचार्य से वह आदेश—रहस्यरूप उपदेश—पूछा था ? जिस आदेश के जानने से न सुना हुआ भेद सुना हुआ हो जाता है; न मनन किया हुआ विषय मनन किया हुआ हो जाता है पदार्थ जाना हुआ और न जाना हुआ पदार्थ जाना हुआ हो जाता है। उसने कहा—भगवन्! वह उपदेश कैसे होता है।

यथा सोम्यैकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वा-चारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्ति केत्येव सत्यम् ॥४॥

आरुणि ने कहा—हे प्यारे! जैसे एक मिट्टी के ढेले से, एक मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से, सारा मृत्तिकामय जगत् जाना हुआ हो जाता है, ऐसे ही उस एक भेद के उपदेश से सब कुछ जाना हुआ होजाता है। मिट्टी के बने हुए पदार्थ नाना हैं, परन्तु वह विकार वचन का अवलम्बन है, कहने की वस्तु है और केवल नाम मात्र है। उसमें पदार्थ, मृत्तिका ही सत्य है।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वा-चारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५ ॥

हे प्यारे! उस उपदेश से सर्वज्ञान ऐसे हो जाता है जैसे एक सुवर्ण पिण्ड से सारा सुवर्णमय जाना हुआ हो जाता है।

विकार-सुवर्ण की बनी वस्तु तो वचनविस्तार है और केवल नाम की वस्तु है । वास्तव में सुवर्ण ही सत्य है ।

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳ सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥

हे प्यारे ! जैसे एक नुहरने के ज्ञान से, एक लोहखण्ड के जान लेने से सारा लोहे का बना विकार जाना हुआ हो जाता है; विकार, वचनविस्तार और नाम की वस्तु है; वास्तव में सब विकारों में लोहा ही सत्य है ऐसे हो प्यारे ! वह आदेश है । उस आदेश से ही सर्वज्ञान हो जाता है ।

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेवमेतद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

पिता का कथन सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—वे मेरे पढ़ाने वाले पूज्य आचार्य निश्चय ही यह आदेश नहीं जानते थे । वे यदि यह भेद जानते होते तो मुझे कैसे न कहते । अब भगवन् ही मुझे वह रहस्य बतायें । उसने कहा—प्यारे ! तथास्तु ।

प्रथम खण्ड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड ।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुर-सदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तस्मादसतः सज्जायत ॥ १ ॥

हे सोम्य ! यह ब्रह्म सृष्टि से पूर्व सत्—अस्तिरूप—ही था वह सद्रूप ब्रह्म एक ही अद्वितीय था। अपने स्वरूप में अखण्ड था। और उसके सदृश कोई दूसरा नहीं था। उसमें कई एक जन कहते हैं अभाव ही, न होना ही यह पहले था। वह अभाव एक ही केवल था। उस अभाव से, नास्ति से भाव उत्पन्न हुआ।

कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच। कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥

मुनि ने कहा—हे प्रिय पुत्र ! निश्चय से कहां से ऐसा हो कैसे अभाव से भाव उत्पन्न होजाय। इस कारण सोम्य ! यह ब्रह्म पहले सत्यरूप ही एक असमान था।

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

उस परमेश्वर ने इच्छा की, मैं बहुत होजाऊँ, अपनी शक्ति का बहुत विस्तार करूँ और जगत् को उत्पन्न करूँ। उसने अपना प्रकाश किया, तेज रचा। उस अभिव्यक्त ईश्वरीय स्वरूप तेज ने इच्छा की कि मैं विस्तृत होजाऊँ और जगत् उत्पन्न करूँ। तब उसने जल सृजा, जलीय जगत् बनाया। इसी कारण जहाँ कहीं मनुष्य सोचता है, परिश्रम करता है अथवा पसीना ले आता है तो उस अवस्था में तेज से ही जल उत्पन्न होते हैं।

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति। ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं

भवयद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

उन जलों ने इच्छा की कि हम वहुत होजायें और जगत् को उत्पन्न करें। तव उन्होंने अन्न को रचा। इस कारण ही जहाँ कहीं मेघ वरसता है वहीं वहुत अन्न होता है। जलों से ही वह खाने योग्य अन्न उत्पन्न होता है।

द्वितीय खन्ड समाप्तः ॥

तीसरा खण्ड ।

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव वीजानि भवन्त्यण्डजम्, जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

निश्चय से उन जीवों के संयोग से इन प्राणियों के तीन ही वीज हैं।, जन्म स्थान हैं एक अण्डे से होने वाला, दूसरा जीव से मनुष्य और पशुओं से होने वाला, उद्भिजों से होने वाला। जो भूमि को फोड़ कर निकलते हैं उनको उद्भित् कहते हैं, वे वनस्पतियाँ हैं।

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

उस ईश्वर ने इच्छा की कि अहो मैं इन तेज, जल और पृथिवी रूप तीन देवताओं में इस इस जीव आत्मा के साथ प्रवेश करके नामरूप को प्रकट करूँ। नाना नाम रूपों को विस्तृत करूँ।

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवतेमास्ति-स्रोदेवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥३॥

उनमें से एक एक को तीन गुणा, तीन गुणा करूँ। ऐसा सङ्कल्प करके उस इस सर्वाधिष्ठात्री देवता ने इन तीन देवताओं में इस जीव आत्मा के साथ प्रवेश करके नाम रूप प्रकट किये।

तासां त्रिवृत्तं त्रिवृतमेकैकामकरोत् । यथा नु खलु सोम्येमांस्तिस्रो देवतास्त्रिवृत् त्रिवृदकैकैकाभवति तन्मे विजानी-हीति ॥ ४ ॥

उस ईश्वर ने उन तीन देवताओं में से एक एक को तीन गुणा, तीन गुणा किया। और निश्चय से, हे प्यारे! जैसे ये तीन देवता एक एक तीन गुणा, तीन गुणा होते हैं वह मुझ से तू जान ।

तृतीय खण्ड समाप्तः ॥

चतुर्थ खण्ड ।

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपाम् यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

जो अग्नि का रक्त वर्ण है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल है वह जलों का रूप है और जो काला रूप है वह पृथिवी देवता का रूप है; अग्नि तीन देवताओं के तीन रूपों का समुच्चय है। इस प्रकार अग्नि का अग्निपन जाता रहा। इस कारण विचार

वचन विस्तार है, नाम मात्र है । वास्तव में तीन रूप ही सत्य हैं ।

यदादित्यस्य रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥

जो सूर्य का रक्त वर्ण है वह तेज है, जो शुक्ल है वह जलों का, जो काला है वह पृथिवी का रूप है । इस प्रकार सूर्य से सूर्यपन जाता रहा; विकार वचन विस्तार और नाम मात्र है । वास्तव में तीन रूप ही सत्य हैं ।

यच्चन्द्रमसो रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम, यच्छुक्लं तदपाम् यत्कृष्णं तदन्नस्य । अपागाच्चन्द्रच्चन्द्रत्वम्, वाचरम्भणं विकारो नामधेयम्, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

यद्विद्युतो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागा द्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

इसी प्रकार चन्द्रमा और विद्युत में भी रक्त वर्ण तेज का है, शुक्ल वर्ण जलों का है और कृष्ण रूप पृथिवी का है इत्यादि ।

एतद्धस्म वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वे म.ाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति । ह्येभ्यो विदांचक्रुः ॥ ५ ॥

सो इस ही रहस्य आदेश को जानते हुए पूर्वज; महाशाला वाले, बड़े वेदवेत्ता जन कहा करते थे कि हमें इस युग में कोई

पुरुष भी अश्रुत, अनर्कित, अविज्ञात ज्ञान नहीं कहेगा, क्योंकि उन्होंने इन्हीं उदाहरणों से सत्य स्वरूप भगवान् को तथा तथा जगत् के सद्भाव को जाना था।

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः ॥ ६ ॥

और जो रक्तवर्णसा पदार्थ हो गया, वह तेज का रूप है ऐसा वह उन्होंने जाना; जो कुछ शुक्लवर्णसा हो गया, वह जलों का रूप है ऐसा वह उन्होंने जाना और जो कुछ कृष्णवर्णसा हो गया वह पृथिवी का रूप है ऐसा वह उन्होंने जाना।

तेज में ही ये तीनों मुख्य रङ्ग हैं। वह ही आदि में रचा गया। उस तेज से ही अन्य पदार्थ बने हैं, इस कारण उनमें छाया आती गई है। गाढतर छाया पृथिवी की है। सो वह कृष्णवर्ण है।

यद्वविज्ञातमिवा भूदित्येतासामेव देवतानाꣳ समास इति तद्विदांचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥७॥

जो कुछ न जाना हुआ सा हो गया, जिसका रूप नहीं दिखाई दिया, वह अज्ञात वस्तु भी इन ही देवताओं का समुदाय है ऐसा वह उन्होंने जाना। हे प्यारे निश्चय से, जैसे ये तीनों देवता जीवात्मा को प्राप्त होकर उनमें से एक तीन गुणा, तीन गुणा होता है वह मुझ से तू जान।

चतुर्थ खण्ड समाप्तः ॥

पांचवां खन्ड ।

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥१॥

खाया हुआ अन्न पचकर तीन भागों में विभक्त होजा है। उसका जो स्थूल भाग होता है वह विष्टा होजाता है, जो मध्यम भाग होता है वह मांस बनता है और जो सूक्ष्मतम भाग होता है वह मस्तक के विचारतन्तु बन जाता है; वह ही मनोवृत्ति का स्थान है।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥२॥

पिये हुए जल पचकर तीन भागों में विभक्त होजाते हैं। उनका जो स्थूल भाग होता है वह मूत्र बन जाता है; जो मध्यम भाग होता है वह रक्त बनता है और जो सूक्ष्मतम भाग होता है! वह प्राण होजाता है, जीवन पोषक बन जाता है।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः स वाक् ॥ ३ ॥

घृत तैलादि को भी तेजोमय पदार्थ कहा जाता है । ऐसा खाया हुआ तेज पचकर तीन भागों में विभक्त हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग होता है वह अस्थि—हड्डी बन जाता है; जो मध्यम भाग होता है वह मज्जा बन जाती है, और जो सूक्ष्मतम भाग होता है वह वाणीं बन जाती है; उससे बोलने के स्वर तथा तन्तु बनते हैं

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥४॥

इस कारण निश्चय से हे सोम्य ! अन्नमय मन है, मनन करने का साधनभूत मस्तकतन्तुजाल है। जलमय प्राण-जीवन-है और तेजोमयी वाणी है। श्वेतकेतु ने कहा—मुझे भगवान् दुबारा भी बतायें। आरुणि ने कहा—प्यारे पुत्र ! तथास्तु ।

पञ्चम खण्ड समाप्तः ॥

छठा खण्ड ।

दध्नः सोम्य ! मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति, तत्सर्पिर्भवति ॥१॥

हे सोम्य ! विलोये जाते हुए दही का जो सूक्ष्म भाग होता है वह ऊपर उठ आता है वह घी होजाता है।

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥ २ ॥ अपाꣳ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति॥३॥ तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

हे सोम्य ! इस प्रकार ही खाये जाते अन्न का जो सूक्ष्म-भाग होता है वह ऊपर उठ जाता है वह मनतन्तुजाल बनता है।

ऐसे ही पिये जाते हुए जलों का जो सूक्ष्म अंश होता है वह ऊपर नितर आता है, वह प्राण-जीवन होजाता है । ऐसे ही खाये हुए तेज का जो सूक्ष्म अंश होता है वह ऊपर नितर आता है वह वाणी बन जाती है।

अन्नमयं हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥५॥

इस कारण ही अन्नमय मन है, जलमय प्राण है और तेजोमयी वाणी है । श्वेतकेतु ने कहा—मुझे आप फिर भी बतायें । आरुणि ने कहा—प्यारे ! तथास्तु ।

षष्ठम खण्ड समाप्तः ॥

सातवां खण्ड

षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः । पञ्चदशाहानि माशीः । काममपः पिब । आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥१॥

हे सोम्य ! सोलहकला वाला यह शारीरी आत्मा है । तू पन्द्रह दिन तक अन्न न खा । जल यथेच्छा पीता रह पानी न पीते हुये तेरा जलमय जीवन नष्ट हो जायगा ।

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ, हैनमुपससाद । किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य ! यजूंषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥२॥

उस श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन तक अन्न न खाया और वह सोलहवें दिन पिता के पास गया। पिता को बोला—हे पिता ! मैं क्या कहूँ, क्या सुनाऊं। उसने कहा—प्यारे ! ऋग्वेद को, यजुर्वेद के मन्त्रों को तथा साम गीतों को सुनाओ। उसने कहा—हे पिता ! मुझे ये वेद नहीं सूझते; नहीं स्मरण होते।

तं होवाच यथा सोम्य ! महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेत्। एवं सोम्य ! ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान ॥३॥

उसको पिता बोला—जैसे बड़ी, इन्धनयुक्त अग्नि का जुगनू समान, एक अंगारा शेष रह जाय तो भी उससे बहुत घास पात न जल सके। हे सोम्य ! ऐसे ही तेरी सोलह कलाओं में से एक कला शेष रह गई है, उससे इस समय तू वेदों को नहीं अनुभव करता, उनके मन्त्र तू स्मरण नहीं कर सकता। अब तू अन्न खा।

अथ मे विज्ञास्यसीति। स हाशाथ हैनमुपससाद। तं ह यत्किंच पप्रच्छ सर्वं ह प्रतिपेदे ॥४॥

भोजन करके जब आयगा तब तू मुझे सारा वेद सुना देगा। उस श्वेतकेतु ने अन्न खाया। फिर वह आरुणि के पास आ गया। आरुणि ने उसको जो कुछ पूछा वह सारा उसने सुना दिया।

तं होवाच—यथा सोम्य ! महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टम्, तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वालयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

उसको पिता ने कहा—हे सोम्य ! जैसे बड़ी इन्धन से प्रचन्ड अग्नि के जुगनूमात्र, एक, अंगारे, बचे हुये को, कोई ले ले और उसे तिनकों से मिलाकर जलाये तौ भी उससे बहुत घास पात जला दे ।

एवं सोम्य ! षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत । साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवसि । अन्नमयं हि सौम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

हे सोम्य ! ऐसे ही तेरी सोलह कलाओं में एक कला शेष रह गई थी । वह अन्न से संयुक्त की हुई प्रज्वलित हो गई । उसी से अब तू वेदों को अनुभव करता है । इस कारण हे सोम्य ! अन्नमय ही मन है, जलमय प्राण है और तेजोमयी वाणी है । ऐसे उदाहरणों से वह तब अपने पिता के उपदेश को समझ गया ।

सप्तम खन्ड समाप्तः ॥

आठवां खण्ड ।

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य

तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳ ह्यपीतो भवति ॥१॥

अरुण के पुत्र उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहा—सोम्य! तू मुझ से स्वप्न के सिद्धान्त को सार को जान ले। जिस अवस्था में यह आत्मा स्वपिति नाम होता है, सोम्य! तब वह सत् से—शुद्ध साक्षी स्वरूप से सम्पन्न होता है; अपने शुद्ध स्वभाव में मग्न होता है और अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। इससे इस आत्मा को सुषुप्ति में स्वपिति ऐसा कहते हैं। वह अपने साक्षी स्वरूप में ही लीन होता है।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य मन इति ॥२॥

जैसे वह पक्षी जो सूत्र से बन्धा हुआ हो, दिशा दिशा को उड़कर, कहीं भी आश्रय न पाकर, थक कर फिर जहां बन्धा हुआ हो वहीं बैठ जाता है। निश्चय ऐसे ही सोम्य! वह वृत्तिस्वरूप बना हुआ मन—आत्मा दिशा को दोड़कर, भटककर कहीं भी आश्रय न प्राप्त करके अन्त में प्राण को ही आश्रय बनाता है; सुषुप्ति में अपने स्वरूप में ही विश्राम करता है। हे प्यारे शुद्ध! साक्षी स्वरूप के बन्धन वाला ही मन है वृत्तिस्थ आत्मा शुद्धसाक्षी रूप प्राण से ही सम्बंध है।

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतपुरुषोऽशिशिपति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥३॥

हे सोम्य ! मुझ से तू भूख प्यास को, इनके भेद को जान ले। जिस अवस्था में यह आत्मा अशिशिपति नाम होता है, खाने की इच्छा वाला होता है उस अवस्था में जल ही उस खाये हुए को देह में सर्वत्र ले जाते हैं। जैसे गौएँ ले जाने वाले को गोनाय, अश्वपति को अश्वनाय, सेनापति को पुरुषनाय ऐसा कहा जाता है ऐसे ही वे जल अशनाय—खाये हुए पदार्थ को ले जाने वाले ऐसा कहे जाते हैं । हे सोम्य ! वहाँ खाये हुए पदार्थ से यह अंकुर-देह-उत्पन्न हुआ जान । यह विना कारण नहीं होगा।

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुंगेनापोमूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुंगेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुंगेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥४॥

उस देह का अन्न से दूसरा कहां मूल-कारण- हो। देह का कारण अन्न अर्थात् पृथिवी है । ऐसे ही निश्चय से हे सोम्य ! पृथिवीरूप अंकुर से जल कारण जान । हे प्यारे ! पानियों के अंकुर-कार्य से तेज कारण को जान। हे सोम्य ! तेज कार्य्य से समूल को, सबके सञ्चालन भगवान् को जान। हे प्यारे ! ये सारी प्रजाएँ, सब आत्माएँ तथा सृष्टियाँ सत् के मूल वालियाँ हैं,

इनका आश्रय परमेश्वर हैं, ये सत् के आश्रित हैं और सत् में प्रतिष्ठित हैं ।

भगवान् ही सारे कारणों का आश्रय है और सब आत्माओं का आधार है । परमेश्वर में सारे कारण विलक्षण और अचिन्तनीय रूप से रहते हैं । इस कारण वह सब का मूल कहा गया है ।

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इति तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुंगमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥

और जिस अवस्था में यह आत्मा पिपासति नाम वाला होता है; जल पान करता है तो उस पिये हुए पदार्थ को तेज ही अवयवों में ले जाता है । सो जैसे गोनाय, अश्वनाय, पुरुषनाय है ऐसे ही वह तेज उदन्यं जल को ले जाने वाला, ऐसा कहते हैं । हे सोम्य ! उस जलपान की अवस्था में यह शरीररूप अंकुर उत्पन्न हुआ जान । यह बिना कारण नहीं होगा; इसका कोई कारण है ।

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुंगेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुंगेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ॥ ६ ॥

उसका जलों से दूसरा कहां कारण हो । हे सोम्य ! जलों के कार्य से तेज को कारण जान । हे सोम्य ! तेज के कार्य से सत् को मूल जान । हे प्यारे ये सारी प्रजाएँ सन्मूला हैं, सत् के आश्रित हैं और सत् में रहती हैं । सब कारणों, कार्यों तथा आत्माओं का आश्रय और आधार परमात्मा है । निश्चय से, सोम्य ! जैसे ये तीन देवता पुरुष को प्राप्त होकर, उनमें से एक एक तीन गुणा, होता है वह पहले से ही कह दिया है, हे सोम्य ! इस जीवात्मा का मरते समय यह होता है कि इसकी वाणी मन में चली जाती है, मन प्राण में चला जाता है, प्राण तेज में चला जाता है और तेज परम देवताआत्मा में लीन होजाता है ।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

वह जो यह प्रकृति के विकार से ऊपर आत्मा है, परम सूक्ष्म है, यह ही शुद्ध आत्मभाव है, यह सब वह सत्य है; परम सत्य है, इसमें विकार नहीं है । हे श्वेतकेतु ! वह शुद्ध आत्मा यह तू है; तेरा स्वरूप परम शुद्ध है । उसने कहा—और भी मुझे भगवन् बतायें । आरुणि ने कहा—प्यारे ! तथास्तु ।

अष्टम खण्ड समाप्तः ॥

नवां खण्ड

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳरसान्समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति ॥१॥

हे सोम्य ! जैसे मधु मक्खियां मधु बनाती हैं। नानाप्रकार के वृक्षों के रसों को एक स्थान पर लाकर एकता प्राप्त रस को सम्पादन करती हैं।

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥२॥

जैसे नानावृक्षों के वे रस वहां मधु अवस्था में यह विवेक नहीं रखते कि मैं इस वृक्ष का रस हूँ, मैं इस वृक्ष का रस हूँ। हे प्यारे ! निश्चय ऐसे ही ये सारी प्रजायें सत्य में-अपने शुद्धस्वरूप में-रह कर भी यह नहीं जानतीं कि हम सत्य में प्राप्त हैं; हम अमर अविनाशी हैं।

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥३॥

इस लोक में वे अज्ञान और गाढतर कर्मबन्ध से घिरे हुये जीव, व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, दश और मशक आदि जो जो होते हैं तब वे ही वे रहते हैं; अपने शुद्धस्वरूप को अनुभव नहीं करते। अपने शुद्धसाक्षी स्वरूप की प्रतीति भाग्य-वश मनुष्य जन्म में होती है।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्। स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥४॥

वह जो यह अविकारी आत्मा है वह परम सूक्ष्म है। यह आत्मभाव है। वह सत्य है, परम सत्य है। हे श्वेतकेतु! वह यह आत्मा विकार, अज्ञानरहित तू है। उसने कहा-मुझको भगवान् उपदेश दें। आरुणि ने कहा-प्यारे! तथास्तु।

नवम खण्ड समाप्तः ॥

दसवां खण्ड

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति समुद्र एव भवन्ति ता यथा तत्र न विदुरियमहस्मीति ॥ १ ॥

हे प्यारे! ये पूर्व को जाने वली नदियां पूर्व की ओर वहती हैं, पश्चिम को जाने वाली पश्चिम को वहती हैं और अन्त में वे समुद्र से समुद्र को ही प्राप्त होती हैं, समुद्र से वाष्परूप होकर उठती हैं और फिर समुद्र में ही चली जाती हैं। समुद्र ही होजाती हैं। जैसे वे नदियां समुद्र वनकर नहीं जानतीं कि यह गङ्गा वा यमुना मैं हूँ, यह मैं हूँ।

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवंति तदा भवन्ति ॥ २ ॥

हे सोम्य! निश्चय ऐसे ही ये सारी प्रजाएं, जीवात्माएं सत् से-अपने शुद्धसाक्षी स्वरूप से वाहर व्यवहार में आकर

अज्ञानवश नहीं जानतीं कि हम सत् से बाहर आ रही हैं; अपने स्वरूप को भूली रहती हैं। इस लोक में वे अविद्याग्रस्त आत्मा व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह कीट, पतङ्ग, दंश और मशकादि जो जो होते हैं वह ही वे बने रहते हैं।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह अविकारी आत्मा है, वह परमसूक्ष्म है यह आत्मभाव है। यह ही वह सर्व सत्य है हे श्वेतकेतु ! वह परमशुद्ध स्वरूप आत्मा यह तू है। उसने कहा—और भी मुझ को भगवान् उपदेश दें। आरुणि ने कहा —सोम्य ! तथास्तु।

दशम खण्ड समाप्तः ॥

ग्यारहवां खण्ड

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥१॥

हे सौम्य ! इस महान् वृक्ष का जो मनुष्य जड़ में अभिहनन करे तो वह जीता हुआ रस गिराये, जो मध्य में अभिहनन करे तो वह जीता हुआ रसता रहे और जो अग्र भाग में अभिहनन करे तो वह भी जीता हुआ रसता रहे , पर सूखे व मरे नहीं।

क्योंकि वह यह वृक्ष जीव से और. आत्मा से परिपूर्ण है; इसमें जीवन भी है और और आत्मा भी हुआ करता है । इसी कारण पानी पीता हुआ हर्ष से रहता है ।

अस्य यदेकाꣳ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच ॥२॥

इस वृक्ष की जब एक शाखा को जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है दूसरी को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, तीसरी को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है और यदि जीव सारे वृक्ष को छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है सोम्य ! निश्चय ऐसे ही मनुष्य शरीर को जान ।

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

निश्चय से यह शरीर आत्मा रहित ही मरता है, आत्मा नहीं मरता । मरण भाव आत्मा में नहीं है । वह सदा अमर सत्ता है । वह जो यह अविनाशी आत्मा है, परम सूक्ष्म है । यह आत्म भाव है । यह सर्व वह सत्य है; परम सत्य है । हे श्वेतकेतु ! वह अमर अविनाशी आत्मा तू है । उसने कहा—और भी मुझको भगवन् उपदेश दें । आरुणि ने कहा—सोम्य ! तथास्तु ।

एकादशो खण्ड समाप्तः ॥

बारहवां खण्ड।

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति ॥ १ ॥

यहाँ समीप से गूलर का फल ले आ। पुत्र ने लाकर कहा—भगवन यह फल है। उसने कहा—इसे तोड़ दे। पुत्र ने फलको तोड़ कर कहा—भगवन्! भेदन हो गया। उसने कहा—इस में तू क्या देखता है? पुत्र ने उत्तर दिया—भगवन्! सूक्ष्मसे ये दाने। उसने कहा—प्यारे! इन में से एक दाने को तोड़ो। पुत्र ने तोड़ कर कहा—भगवन् भेदन हो गया। उसने फिर पूछा—इस दाने में तू क्या देखता है? पुत्र ने कहा—भगवन! कुछ भी नहीं देखता हूं।

तं होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥२॥

तब आरुणि ने उसको कहा—प्यारे! जिस ही इस अत्यन्त सूक्ष्म कारण को तू नहीं देखता है! इसी सूक्ष्म कारण का ही यह ऐसा महान् गूलर का वृक्ष है। बीज में ही वृक्ष बनने की योग्यता निहित है। हे सोम्य! इस बात पर श्रद्धा कर।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा

तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह देह है आत्मा है परम सूक्ष्म है । यह आत्म-भाव है। यह सत्य है। हे श्वेतकेतु ! वह देह में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से रहा हुआ आत्मा यह तू है। देह में आत्मा किस प्रकार रहता है यह तर्क से अगम्य बात है। इस पर श्रद्धा कर। उसने कहा—और भी मुझ को भगवान् उपदेश दें । अरुणि ने कहा—प्यारे ! तथास्तु ।

द्वादश खण्ड समाप्तः ॥

तेरहवां खण्ड ॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तꣳहोवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अंग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥१॥

आरुणि ने कहा—यह लवण पानी में रख कर सवेरे मेरे पास आना। उसने ऐसा ही किया । जब सवेरे वह अपने पिता के समीप गया तो उसने उसे कहा—रात को जो लवण तूने पानी में रक्खा था, वह लेआ । उसने उस लवण को पानी में खोज कर भी नहीं जाना। उसको वह नहीं मिला।

यथा विलीनमेवांगास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथ-

मिति लवणमित्यभिप्राश्यैनदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तꣳहोवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥२॥

आरुणि ने कहा—प्यारे ! इस में लवण ऐसा है मानो विलीन ही हो । इस जल को ऊपर से आचमन कर । आचमन करने पर आरुणि ने कहा—जल का स्वाद कैसा ? उसने उत्तर दिया—लवण है । फिर कहा—मध्य से आचमन कर । आचमन करने पर पूछा—कैसा है ? उसने कहा—लवण है । फिर कहा—किनारे से आचमन कर । आचमन करने पर पूछा—कैसा है ? उसने कहा—लवण है । अन्त में मुनि ने कहा—अब इस जल को पान करके मेरे समीप आना । उसने वह वैसा ही किया और पिता को कहा—लवण निरन्तर विद्यमान है, नष्ट नहीं हुआ । मुनि ने उसको कहा—सोम्य ! निश्चय वह लवण यहाँ जल में ही है, परन्तु लीन होजाने से तू नहीं देखता । यहाँ ही रमा हुआ है । निश्चय से यहाँ ही है ।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

वह जो आत्मा है, परमसूक्ष्म है । यह आत्मभाव है । यह वह सर्व सत्य है । वह देह में रमा हुआ आत्मा यह तू है । उसने कहा—और भी मुझ को भगवान् उपदेश दें । आरुणि ने कहा—प्यारे ! तथास्तु ।

त्रयोदश खण्ड समाप्तः ॥

चौदहवां खण्ड ।

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्रांवोदंवाऽधरांवा प्रत्यंवा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

हे सोम्य ! जैसे कोई शत्रु किसी पुरुष को गन्धारदेश से आंखें बान्धकर दूरदेश में लाकर उसको निर्जनस्थान में छोड़ दे । वह जैसे वहां पूर्वको, उत्तर को, नीचे को तथा पश्चिम को ऊंचे स्वर से चिल्लाये कि मैं नेत्रबद्ध छोड़ दिया गया हूँ। मुझ पर दया करके कोई मुझे स्वदेश का पथ प्रदर्शन करायें ।

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥ २ ॥

जैसे उसके करुण क्रन्दन को सुनकर कोई दयावान् उसके नेत्र के बन्धन को खोलकर उसे कहे-इस दिशा को गन्धार है, इस दिशा को जा। वह ग्राम से ग्राम पूछता हुआ, पण्डित बुद्धिमान् अन्त में गन्धार में ही पहुंच जावे। ऐसे ही यहां आत्मज्ञान में आचार्यवान् पुरुष, सद्गुरु का शिष्य जानता है। गुरुमुख से सुनकर, आत्ममार्ग पाकर वह भी परमेश्वर के आदित्यवर्ण धाम को पहुंच जाता है। परमधाम में पहुंचने की उसकी उतनी ही देर होती है जब तक वह बन्ध से नहीं मुक्त होता है। अन्त में परमपद प्राप्त कर लेता है।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह गुरु उपदेश से शुद्ध आत्मा है परमसूक्ष्म है। यह आत्मभाव है। यह वह सर्व सत्य है, वह मेरे उपदेश से शुद्ध और प्रबुद्ध आत्मा, हे श्वेतकेतु ! यह तू है। उसने कहा-और भी भगवन् मुझे उपदेश दें। आरुणि ने कहा-हे सोम्य तथास्तु

चतुर्दश खण्ड समाप्तः ॥

पन्द्रहवां खण्ड ।

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वांमनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेज परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥१॥

हे सोम्य ! ज्वरादि से पीड़ित पुरुष को सम्बन्धीजन घेर कर उससे पूछते हैं कि मुझे पहचानता है, मुझे जानता है। जब तक उसकी वाणी मन में नहीं लीन होती, मन उसका प्राण में नहीं लीन होता, प्राण तेज में नहीं लीन होते और तेज परम देवता आत्मा में नहीं लीन होता तब तक जानता रहता है।

अथ यदास्य वांमनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥२॥

और जब इसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण

में लय हो जाता है प्राण तेज में और तेज परम देवता आत्मा में लीन हो जाता है तब वह नहीं जानता ।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

वह जो यह ज्ञानस्वरूप परम देवता आत्मा है, परम सूक्ष्म है। यह आत्मभाव है यह वह सर्व सत्य है। वह ज्ञानस्वरूप आत्मा, हे श्वेतकेतु! यह तू है उसने कहा-और भी मुझ को भगवन् उपदेश देवें। आरुणि ने कहा-सोम्य तथास्तु ।

पन्द्रहवां खण्ड समाप्तः ॥

सोलहवां खण्ड ।

पुरुषꣳ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥१॥

हे सोम्य और जब कभी राजपुरुष किसी डाकूपुरुष को उसके हाथ बांधकर, राजसभा में लाते हैं तो कहते हैं इसने, प्राण व धन अपहरण किया, चोरी की। उस समय न्यायाधीश कहता है-यह अपना दुष्ट कर्म स्वीकार नहीं करता, इस कारण इसके लिये कुल्हाड़ा तपाओ, इसकी परीक्षा करें। वह यदि उस कर्म का कर्त्ता होता है और फिर भी अपने आप को झूठा प्रकट करता है

तो वह असत्यभाषी झूठ से अपने आपको छुपाकर तपे हुये कुल्हाड़े को पकड़ लेता है। तब वह जलने लगता है। तदनन्तर डाकू जानकर राजपुरुषों द्वारा वह मारा जाता है।

अथ यदि तस्याः कर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥२॥

और यदि वह उस कर्म का कर्त्ता नहीं होता, तो वह उस से ही अपने आप को सत्यसिद्ध करता है। वह सत्यभाषी न्यायाधीश के सन्देह पर सत्य से अपने आपको ढाँप कर तपे हुए परशु को पकड़ लेता है, परन्तु सत्य के प्रभाव से वह नहीं जलता। तब छोड़ दिया जाता है।

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥३॥

जैसे सत्य के प्रभाव से सत्यवादी परीक्षा में नहीं जलता तथापि सर्वत्र सत्य अविनाशी है, सत्यस्वरूप आत्मा का कदापि नाश नहीं होता। यह आत्मभाव है। यह वह सर्वसत्य है। वह सत्यस्वरूप अविनाशी आत्मा, हे श्वेतकेतु! यह तू है। तब उस आरुणि का वह सद्विज्ञान श्वेतकेतु जान गया।

सोलहवां खन्ड समाप्तः ॥

प्रपाठक सातवां (खण्ड पहला)

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः । तं होवाच—यद्वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥१॥

एक समय नारद महात्मा ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा—हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मविद्या पढ़ाइये । सनत्कुमार ने उसको कहा—जो कुछ तू जानता है, मेरे समीप बैठ; वह मुझे सुनादे । उससे ऊपर तुझे बताऊँगा ।

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदम्, सामवेदमाथर्वणं, चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदनां वेदं पित्र्यम् राशिं देवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

नारद ने कहा—भगवन् ! मैं ऋग्वेद को, यजुर्वेद को सामवेद को, चौथे अथर्ववेद को, पांचवे इतिहास पुराण को, वेदों के वेद ज्ञान को, पितृकर्म को, गणितशास्त्र को, भाग्यविज्ञान को, निधिज्ञान को, तर्कशास्त्र को नीति शास्त्र को देवों के ज्ञान को ब्रह्मविद्या को, पांच तत्त्वों की विद्या को, धनुर्वेद को, ज्योतिष शास्त्र को, सर्पों के ज्ञान को और गन्धर्व-विद्या को मैं जानता हूँ । हे भगवन् ! यह सब मैं अध्ययन करता हुं, मुझे ये विद्यायें आती हैं ।

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाऽत्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्त रति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि

तं मा भगवांछोकस्य पारं तारयत्विति तथं होवाच यद्वै किंचै-
तदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥३॥

हे भगवन्! मैं सर्वविद्या सम्पन्न हूँ; आत्मा का ज्ञाता नहीं हूँ। मैंने आप जैसों से सुना है कि आत्मज्ञाता जन्म मरण की चिन्ता को तर जाता है। परन्तु भगवन्! वह मैं शोक करता हूं। उस चिन्तातुर मुझको भगवन् शोक से पार तार देवें। नारद को सनत्कुमार से कहा—तूने जो कुछ ही यह अध्ययन किया वह यह नाम ही है; शब्द मात्र है।

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इति-
हासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाको-
वाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्र-
विद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥४॥

सनत्कुमार ने कहा—हे नारद! ऋग्वेदादि सारी विद्यायें नाम है नाम ही यह है; नामका-शब्द का यह विस्तार है। तू नाम ही चिन्तन कर। पाठ को भली भाँति समझ।

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा-
कामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो
भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥५॥

वह जो नाम ब्रह्म की उपासना करता है, इसकी जहां तक नाम की गति है वहाँ तक, स्वेच्छागमन होजाता है। नारद ने

कहा—भगवन ! नाम से भी कुछ अधिक है ? उसने कहा—नाम से भी अधिक है । नारद ने कहा—भगवन् वह वस्तु मुझे बतावें ।

प्रथम खंड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड ।

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां ॥

सनत्कुमार ने कहा—हे नारद ! वाणी नाम से बड़ी है वाणी में ही नाम शब्द पिरोये हुए हैं । वाणी ही ऋग्वेद को बतलाती है; वाणी ही वेदों का, सारी विद्याओं का तथा सारे तत्त्वों का ज्ञान कराती है ।

दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतींछ्वापदान्या-कीटपतंगपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वांगनाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥१॥

द्युलोक को, पृथवी को, वायु को, आकाश को, जलों को, तेज को, देवों को, मनुष्यों को, पशुओं को, पक्षियों को, तृण

वनस्पतियों को, हिंस्र जन्तुओं को, कीड़ों से लेकर पतंग चींटी तक को, धर्म को, अधर्म को, सत्य को असत्य को, अच्छे को, बुरेको, हृदयानुकूल को, हृदय प्रतिकूल को वाणी ही बतलाती है। यदि वाणी न होती तो न धर्म न अधर्म होता। न सत्य, न असत्य, न अच्छा, न बुरा, न हृदयानुकूल, न हृदयप्रतिकूल जाना जाता। वाणी ही इस सबको बतलाती है नारद ! तू वाणीकी उपासना कर।

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

वह जो वाणी को ब्रह्म ऐसा जानकर उपासना करता है जहां तक वाणी की गति है वहां तक इसका यथेच्छा गमन होता है। नारद ने कहा—भगवन् ! वाणी से अधिक भी कुछ है ? उसने कहा—वाणी से भी अधिक है। नारद ने कहा—वह मुझे भगवन् कहें।

दूसरा खण्ड समाप्तः ॥

तीसरा खण्ड ।

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मंत्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीतेत्यथ कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोक-

ममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥ १ ॥

सनत्कुमार ने कहा—मन ही वाणी से बड़ा है। जैसे दो आंवलों को, दो बेरों को, दो पासों को मुष्टि अनुभव करती है ऐसे ही वाणी को, नाम को मन अनुभव करता है। जब वह मनन करने वाला मन से विचारता है कि मंत्रों को पढूं तो पढ़ने लग जाता है, कर्मों को करूं तो करने लग जाता है, पुत्रों को, पशुओं को चाहूँ तो चाहने लग जाता है इस लोक को उस लोक को, चाहूँ तो इच्छा करने लग जाता है। मन ही आत्मा है, मन ही लोक-प्राप्ति है, मन ही महान् है; नारद! तू मन की उपासना कर।

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते अस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान ब्रवीत्विति ॥२॥

जो मनुष्य मन को महान् मानकर ईश्वरोपासना करता है जहां तक मन की गति है वहां तक इस का स्वच्छन्द सञ्चार होता है। इत्यादि।

तीसरा खण्ड समाप्तः ॥

चौथा खण्ड ।

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ

वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

सङ्कल्प चित्त वृत्ति मन से महान है । जब ही कोई सङ्कल्प करता है तब मनन करने लग जाता है । फिर वाणी को प्रेरणा करता है । उस वाणी को नाम में, शब्दों में प्रेरता है । नाम में मन्त्र एक हो जाते हैं; मन्त्रों में कर्म एक हो जाते हैं ।

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तामापश्च तेजश्च तेषाᳩं संक्लृप्त्यै वर्षᳩं संकल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नं संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते । प्राणानां संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणां संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते । कर्मणां संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते । स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति ॥२॥

वे ही ये नामादि सङ्कल्प आश्रित हैं, सङ्कल्पात्मक हैं और सङ्कल्प में रहते हैं । द्युलोक और पृथिवीलोक सङ्कल्प करते हुये प्रतीत होते हैं, वायु और आकाश सङ्कल्प कर रहे हैं, जल और तेज सङ्कल्प कर रहे हैं; इन में भगवान् का सङ्कल्प काम करता है । उनके सङ्कल्पनिमित्त वृष्टि होती है, वृष्टि के सङ्कल्पनिमित्त अन्न होता है अन्न के सङ्कल्पनिमित्त प्राण होते हैं, प्राणों के सङ्कल्पनिमित्त मन्त्र होते हैं, मन्त्रों के सङ्कल्पनिमित्त कर्म होते हैं ।

कर्मों के सङ्कल्पनिमित्त लोक होते हैं, लोक के सङ्कल्पनिमित्त सब कुछ होता है। वह यह सङ्कल्प-चित्त-महान् है ! नारद ! तू सङ्कल्प को चिन्तन कर।

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

वह जो सङ्कल्प को महान्, ऐसा जानकर उपासना करता है, वह निश्चय निश्चित किये हुए लोकों को सिद्ध कर लेता है, स्थिरमति वाला स्थिर पदार्थों को साधता है, प्रतिष्ठितजन प्रतिष्ठित सन्तानों को प्राप्त करता है, और संशयादि से अपीडित मनुष्य पीड़ा सन्देह रहित सम्बन्धियों को सिद्ध करता है। जहां तक सङ्कल्प की गति है वहां तक इसका स्वच्छन्द संचार हो जाता है। इत्यादि।

चतुर्थ खंड समाप्तः ॥

पांचवां खण्ड ।

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

चित्त ही सङ्कल्प से महान् है; उसकी सत्ता सङ्कल्प का शासन करती है। मनुष्य जब ही चिन्तन करता है तो तभी सङ्कल्प करता है। प्रथम स्फुरणा चित्त में होती है। फिर मनन करता है, तदनन्तर वाणी को प्रेरता है। और फिर उस वाणी को नाम में शब्दों के जोड़ने में, स्मृति के तार में प्रेरित करता है। नाम में मंत्र एक हो जाते हैं और मन्त्रों में कर्म एक हो जाते हैं। मंत्र शब्दमय हैं और कर्म मंत्रों में वर्णित हैं।

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

वे ही ये सङ्कल्पादि चित्त के आश्रित हैं, चित्तरूप हैं और चित्त में प्रतिष्ठित हैं। इससे यद्यपि कोई बहुश्रुत मनुष्य अचित होजाता है, उन्मत्त होजाता है तो यह नहीं है, ऐसा ही इस को लोग कहते हैं। जो यह जानता है, पढ़ा हुआ है, यदि यह स्मरण करता होता तो इस प्रकार चेतना रहित न होता। और यदि कोई थोड़ा जानने वाला चैतन्य होता है तो उस को ही मनुष्य सेवने लग जाते हैं। इस कारण चित्त ही सङ्कल्पादिकों का आश्रय है, चित्त आत्मा है और चित्त प्रतिष्ठा है। हे नारद ! तू चित्त की उपासना कर।

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चत्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

वह जो चित्त को महान् जानकर भगवान की चित्त से उपासना करता है वह चेतनवन्त लोकों को सिद्ध कर लेता है । शेष पूर्ववत ॥

पाँचवां खन्ड समाप्तः ॥

छठा खण्ड ।

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यान्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥२॥

सनत्कुमार ने कहा—ध्यान ही चित्त से महान् है । ध्यान करती हुई सी पृथिवी है, मानो पृथिवी अपने रचयिता परमेश्वर का ध्यान करती हुई निश्चल है । ध्यान करता हुआ अन्तरिक्ष है । सौर लोक मानो ध्यान कर रहा है, जल मानो ध्यान कर रहे हैं ।

पर्वत मानो ध्यान कर रहे हैं, देवजन तथा मनुष्य मानो ध्यान कर रहे हैं। प्रकृति का सारा विकास भगवान् के नियम में नियत रूप से निश्चल है। इस कारण जो नर नारी इस लोक में मनुष्यों की महत्ता को प्राप्त करते हैं, ध्यान की कला के अंश से ही वे होते हैं, थोड़े बहुत ध्यान से ही, एकाग्रता तथा हरि ध्यान से ही वे बड़ाई पाते हैं। और जो अल्प हैं, तुच्छ तथा चञ्चल चित्त हैं वे कलह करने वाले, चुगलखोर और निन्दक होते हैं। तथा जो जन समर्थ, शक्तिशाली होते हैं, ध्यान की कला के अंश से ही वे होते हैं। मानों ध्यान के एक अंश से उनको ऐसा गौरव प्राप्त होता है। हे नारद! तू ध्यान को सिद्ध कर।

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

वह जो ध्यान को महान् जानकर भगवान् की उपासना करता है; जहां तक ध्यान की गति है वहां तक इसका स्वच्छन्द सञ्चार होता है अन्य पूर्ववत।

छठा खण्ड समाप्तः ॥

सातवां खण्ड।

विज्ञानं वाव ध्यानद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमंवेदानं

वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतींछ्वापदान्याकीट-पतंगपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—विज्ञान ही, ध्यान से महान् है। मनुष्य को यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। विज्ञान से मनुष्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्ववेद को जानता है। पांचवें इतिहास पुराण को, व्याकरण को, पितृकर्म को, गणित को, भाग्यविज्ञान को, खानों को, तर्कशास्त्र को, नीतिशास्त्र को, देवविद्या को, ब्रह्मविद्या को, तत्वों की विद्या को, क्षत्रविद्या को, ज्योतिषविद्या को सर्पों के ज्ञान को तथा गायनविद्या को, द्युलोक को, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण वनस्पति, हिंस्रजीव, कीट पतंग चींटी, धर्म, अधर्म, सत्यासत्य, अच्छा बुरा, अनुकूल, प्रतिकूल, अन्न, रस, इस लोक, परलोक वा उस लोक इन सब को विज्ञान से ही मनुष्य जानता है। हे नारद! तू विज्ञान को प्राप्त कर।

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञान-वतोऽभिसिद्ध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

जो जन विज्ञान को महान् जानकर परमेश्वर की उपासना करता है वह विज्ञान वाले और ज्ञान वाले लोकों को सिद्ध कर लेता है। शेष पूर्ववत्।

सातवां खण्ड समाप्तः ॥

आठवां खण्ड।

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—बल ही विज्ञान से अधिक है। निश्चय सौ विज्ञान वालों को एक बलवान् कम्पा देता है। वह ज्ञानी जब बली होता है तभी कार्य्य करने को खड़ा होता है। खड़ा होता हुआ सेवा करने लग जाता है, सेवा करता हुआ सत्सङ्ग में बैठने वाला हो जाता है, सत्सङ्ग में बैठता हुआ तत्व को देखने वाला हो जाता है। तदनन्तर श्रोता होता है, मनन करने वाला होता है, तत्वज्ञाता होता है, सत्कर्म कर्त्ता होता है और आत्मज्ञाता होजाता है।

बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवन-

स्पतयः श्वापदान्या कीटपतंगपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

बलसे ही पृथिवी ठहरी हुई है; बलसे आकाश, बलसे द्युलोक बलसे पर्वत, बलसे देव मनुष्य, बलसे पशु, बल से पक्षी, बलसे तृण वनस्पतियां, बलसे हिंस्रजीव, कीट पतंग तथा चीटियां, ये सब अपने स्वभाव में ठहरे हुए हैं। भगवान् का नियम और उस की नियति ही परम बल है उसी से सब की स्थिति है। बल से लोक अपनी मर्यादा में स्थिति है। हे नारद! तू बल की प्राप्ति कर।

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

जो जन बल को महान् जान कर भगवान् की उपासना करता है जहां तक बल की गति है वहां तक उसका स्वच्छन्द सञ्चार होता है। शेष पूर्ववत्।

आठवां खण्ड समाप्तः

नवां खण्ड

अन्नं वाव बलाद्भूयः। तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवति। अथान्नस्यायै द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति

बोद्धा भवति, कर्त्ता भवति, विज्ञाता भवति। अन्नमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्न ही बलसे अधिक है, अन्न से बल प्राप्त होता है। इस कारण यद्यपि कोई मनुष्य दश रात्रि तक न खाये और यदि वह जीता रहे तो अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्त्ता और अविज्ञाता हो जाता है, उसमें ज्ञान, मनन नहीं रहता। और अन्न की प्राप्ति से देखने वाला हो जाता है। श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता और विज्ञाता हो जाता है, उसका मनन ज्ञान बना रहता है। इस कारण नारद ! तू अन्न को सेवन कर।

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिद्ध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

जो जन अन्न को महान् मान कर भगवान् की उपासना करता है; खाता पीता हुआ उसको नहीं भूलता, वह अमृतभोजी अन्न वाले और पान वाले लोकों को सिद्ध कर लेता है। शेष पूर्ववत्।

नवम खण्ड समाप्तः ॥

दसवां खण्ड ।

आपो वावान्नाद्भूयः। तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति, व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीति। अथ यदा

सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीति । आप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी, यदन्तरिक्षं, यद् द्यौः, तत्पर्वताः यद्देवमनुष्याः, यत्पशवश्च, वयांसि च, तृणवनस्पतयः, श्वापदान्याकीटपतंगपिपीलकमापएवेमा मूर्त्ताः । अप उपास्स्वेति॥१॥

जल ही अन्न से अधिक है, जल से अन्न होता है । इस कारण जब सुवृष्टि नहीं होती तो प्राण दुःखित होते हैं कि अन्न थोड़ा होगा । और जब अच्छी वर्षा होती है तो प्राण आनन्दित होते हैं कि अन्न बहुत होगा । जल ही ये आगे कहे मूर्त्तिमन्त पदार्थ हैं । जो यह पृथिवी है, जो अन्तरिक्ष है, जो द्युलोक, जो पर्वत, जो देवमनुष्य, जो पशु, पक्षी, तृण वनस्पतियां, हिंस्रजीव, कीट से पतङ्ग चींटी तक जल ही ये मूर्त्त हैं, जल ही इन में मूर्त्तिमन्त बने हुये हैं । हे नारद ! तू जलों का सेवन कर ।

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाᳬस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो जलों को महान्, ऐसा जान कर भगवान् की उपासना करता है. स्नानादि से शुद्ध होकर उपासना करता है वह सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है; तृप्तिमान् हो जाता है । शेष पूर्ववत् ।

दशम खण्ड समाप्तः ॥

ग्यारहवां खण्ड

तेजो वावाद्भ्यो भूयः । तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति, तदाहुर्निशोचति, नितपति, वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते । तदेतदूर्ध्वाभिश्च, तिरश्चीभिश्च, विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति । तस्मादाहुर्विद्योतते, स्तनयति, वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते । तेज उपास्स्वेति ॥१॥

तेज ही जलों से अधिक है, तेज से जल बने हैं । जिस तत्त्व से जलों की उत्पत्ति तथा प्रकाश होता है वह तेज है । वह यह तेज वायु को भली भाँति ग्रहण करके आकाश को तपाता है । तब लोग कहते हैं बहुत तप रहा है, अति तप रहा है अब बरसेगा । तेज ही उस पूर्व, उष्ण स्वस्वरूप को दिखा कर फिर जलों को रचता है वे ये तेज ही, ऊपर की ओर तिरछी बिजलियों से गरजते हुए चलते हैं । इस कारण लोग कहते हैं कि चमक रहा है, गर्जता है अब बरसेगा । हे नारद ! तू तेज को जान ।

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते, तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति । यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवस्तेजसो भूय इति ? तेजसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

वह जो तेज को महान् , ऐसा जान कर भगवान की उपासना करता है वह तेजस्वी प्रकाशमान और अन्धेरे से रहित लोकों को सिद्ध कर लेता है । शेष पूर्ववत् ।

एकादशो खन्ड समाप्तः ॥

बारहवां खण्ड ।

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशेन रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायते आकाशमुपास्स्वेति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—आकाश ही तेज से अधिक है। आकाश में ही सूर्यचन्द्र दोनों विजली, नक्षत्र और अग्नि आदि रहते हैं। आकाश से मनुष्य शब्द द्वारा दूसरे को बुलाता है। आकाश से मनुष्य शब्द को सुनता है, उत्तर को सुनता है, आकाश में मनुष्य क्रीड़ा करता है, आकाश में ही बन्धु वियोग होने पर नहीं रमण करता, आकाश में सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और आकाश को पाकर ही जगत उत्पन्न होता है। हे नारद ! तू सब सब का स्थान आकाश को जान ,

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिद्ध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति

भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

वह जो आकाश को महान्, ऐसा जान भगवान् की उपासना करता है वह आकाश वाले, प्रकाश वाले, दुःख क्लेश रूप बाधा रहित और विस्तीर्ण लोकों को सिद्ध कर लेता है। शेष पूर्ववत्।

बारहवां खन्ड समाप्तः ॥

तेरहवां खण्ड।

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून्स्मरमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

सनत्कुमार ने कहा—स्मृति-स्मरण ही आकाश से अधिक है। इस कारण यद्यपि बहुत मनुष्य न स्मरण करते हुए एक स्थान में ही बैठे हुए हों, तो भी वे न ही कुछ सुनें, न मनन करें और न जानें। जब ही वे स्मरण करें-स्मृति से काम लें तब सुनने लग जायें तथा मनन करने लग जायें और जान सकें। स्मृति से ही मनुष्य अपने पुत्रों को जानता है और स्मृति से पशुओं को पहचानता है। नारद ! तू स्मरण-शक्ति का सम्पादन कर।

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथा-

कामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

जो जन स्मरण को महान् जानकर भगवान् की उपासना करता है, जहाँ तक स्मरण की गति है, वहां तक उसका स्वच्छन्द संचार होता है। शेष पूर्ववत्।

त्रयोदश खन्ड समाप्तः ॥

चौदहवां खगड ।

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अप्राप्त पदार्थ की आकांक्षा का नाम आशा है। सनत्कुमार ने कहा—आशा ही स्मरण से अधिकतरा है। निश्चय जब आशा से प्रदीप्त स्मृति होती है तब मनुष्य मन्त्रों को पढ़ता है, कर्मों को करता है, पुत्रों को और पशुओं को चाहता है, इस और उस लोक को चाहता है। नारद ! तू आशा को आराधन कर।

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान-ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो आशा को महान, ऐसा जानकर भगवान् की उपासना करता है, परमेश्वर की कृपा से इसके सारे मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं और इसके आशीर्वाद अमोघ-अचूक- हो जाते हैं। शेष पूर्ववत्।

चतुर्दश खण्ड समाप्तः॥

पन्द्रहवां खण्ड।

प्राणो वाव आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वꣳ समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः॥ १॥

प्राण से तात्पर्य यहाँ आत्मा की शक्ति से है। वह शक्ति देहस्थ पुरुष की देह में जीवन रूप से स्फुरित होती है और परमपुरुष के लोकों के निर्माण तथा स्थिति आदि में अभिव्यक्त होती है। सनत्कुमार ने कहा—प्राण ही आशा से अधिकतर हैं। जैसे ही रथ की नाभि में अरे लगे हुए होते हैं ऐसे ही इस प्राण में सब कुछ समर्पित है। प्राण, प्राणद्वारा जन्मान्तर में जाता है, प्राण, प्राण को फलप्रदान करता है, प्राण के लिये ही देता है। प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता है, प्राण बहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है। ये सब संज्ञाएं आत्मशक्ति में ही समझी गई हैं।

स यदि पितरं वा, मातरं वा भ्रातरं वा, स्वसारंवाचार्यं वा ब्राह्मणं वा, किंचिद् भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवै नमाहुः पितृहा वै त्वमसि, मातृहा वै त्वमसि, भ्रातृहा वै त्वमसि, स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि, ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥२॥

यदि वह अवज्ञा करने वाला पिता को, माता को, भ्राता को, बहिन को, आचार्य को, ब्राह्मण को कुछ अनुचित सा कहे तो सन्त लोग तुझे धिक्कार हो, ऐसा उस को कहते हैं । तू पितृघातक है, तू मातृघातक है, तू भ्रातृहन्ता है, तू बहिन को हनन करने वाला है, तू आचार्य घातक है, तू ब्राह्मणघातक है, ऐसा उसको कहते हैं ।

अथ यद्यप्येनानुतक्रान्तप्राणान् शूलेन समासं व्यतिसं दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥

और यद्यपि इन मरे हुए, प्राण रहित, पिता आदिकों को कोई पुत्रादि शूल से इकट्ठा करके अच्छी तरह जलावे तो इसको सन्तजन नहीं कहते कि तू पितृहन्ता है, न कहते हैं तू मातृहन्ता है, न भ्रातृहन्ता है, न बहिन का हन्ता है, न आचार्यहन्ता है और न ब्राह्मणहन्ता है ।

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति । तं चेद् ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥४॥

प्राण-आत्म ही ये सारे सम्बन्धी हो जाता है । वह ही यह आत्माज्ञानी ऐसे समझता हुआ, ऐसे मनन करता हुआ और ऐसे जानता हुआ अतिवादी हो जाता है, यथार्थ वक्ता बन जाता है । किसी का पक्षपात वह नहीं करता । उसको यदि अन्य जन कहें कि तू अतिवादी है तो मैं अतिवादी हूँ ऐसा उत्तर में वह कहे अपने भाव को न छुपाये ।

पञ्चदश खन्ड समाप्तः ॥

सोलहवां खण्ड

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

अतिवादन का अर्थ है—अति-परम-कथन । सनत्कुमार ने कहा—यह आत्मवेत्ता ही परम कथन करता है, जो सत्य के साथ साक्षी के भाव से अति बोलता है । साक्षी आत्मा के भाव से ही ऊँची बात कही जाती है । नारद ने कहा—भगवन् ! ईश्वर कृपा से वह मैं सत्य से अति बोलूँ । उस ने कहा—तब सत्य ही, अविनाशी पद ही जानने योग्य है । नारद ने कहा—हे भगवन् ! मैं सत्य को जानना चाहता हूँ ।

सोलहवाँ खण्ड समाप्तः ॥

सत्रहवां खण्ड

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदंति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्य- मिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

पदार्थ के विशेष ज्ञान का नाम विज्ञान है । सनत्कुमार ने कहा-निश्चय जब मनुष्य आत्मा परमात्मा को भलीभाँति जानता है तब सत्य बोलता है । न जानता हुआ सत्य नहीं बोलता । जानता हुआ ही सत्य कहता है । विज्ञान ही जानने की इच्छा करने योग्य है । नारद ने कहा—भगवान् ! मैं विज्ञान को जानना चाहता हूँ ।

सतरहवां खन्ड समाप्तः ॥

अठारहवां खण्ड ।

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

देखे, सुने और पढ़े हुए विषयों को विचारना और मानना मति है । सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जब कोई मनुष्य सत्य को मनन करता है, मानता है तब जानता है । न मानकर नहीं जानता । मानकर ही जानता है । मति ही जानने की इच्छा करने योग्य है । नारदने कहा—भगवन् ! मैं मति को जानना चाहता हूँ ।

अठारहवाँ खन्ड समाप्तः ॥

उन्नीसवां खण्ड ।

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति॥१॥

आत्मा परमात्मा रूप सत्य को धारण करने की जो रुचि है, जो आस्तिकभाव है उस का नाम श्रद्धा है। सनत्कुमार ने कहा निश्चय जब मनुष्य सत्य में श्रद्धा करता है तब सत्य को मानता है। और अश्रद्धा करता हुआ नहीं मानता। श्रद्धा करता हुआ ही मानता है। श्रद्धा ही जानने की इच्छा करने योग्य है। नारद ने कहा—भगवान् श्रद्धा को मैं जानना चाहता हूँ।

उन्नीसवाँ खण्ड समाप्तः॥

बीसवां खण्ड ।

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानितिष्ठंश्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

आत्मा परमात्मा रूप सत्य में जो अविचल धारणा करता है, जो दृढ़ विश्वास तथा निश्चय है उसका नाम निष्ठा है। सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जब मनुष्य सत्य में अविचल निश्चय करता है तब सत्य में श्रद्धा करता है। न निश्चय करता हुआ नहीं श्रद्धा करता, संशयात्मा श्रद्धालु नहीं होता। निश्चय करता हुआ ही श्रद्धा करता है। निष्ठा-सत्य ने अविचल स्थिति ही जाननें

की इच्छा करने योग्य है। नारद ने कहा--भगवन्! मैं निष्ठा को जानना चाहता हूँ ।

बीसवाँ खण्ड समाप्तः ॥

इक्कीसवां खण्ड ।

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति । नकृत्वा निस्तिष्ठति । कृत्वैव निस्तिष्ठति । कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

भगवान् की उपासना, आराधना तथा कर्त्तव्यकर्म का नाम कृति है। सनत्कुमार ने कहा--निश्चय जब मनुष्य सत्य की प्राप्ति के लिये उपासना आदि सत्कर्म करता है तब सत्य में निष्ठा करता है, कर्म न करके नहीं निष्ठा करता है, अकर्मण्यजन केवल कोरा तर्क ही करता रहता है। कर्म करके ही निष्ठा करता है। इस कारण कृति-कर्त्तव्यशीलता ही जानने की इच्छा करने योग्य है। नारद ने कहा--भगवन! मैं कृति को जानना चाहता हूँ ।

इक्कीसवां खन्ड समाप्तः ॥

बाईसवां खंड ।

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति । नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति । सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जब मनुष्य कर्म करके सुख को पाता है तब कर्म करता है, आत्म-परमात्म-सत्ता सुख रूपा है। उसकी प्राप्ति हो तभी धार्मिक कर्म किये जाते हैं। सुख को न पाकर कर्म नहीं करता। सुख को ही पाकर कर्म करता है। इस कारण सुख ही जानने की इच्छा करनी योग्य है। नारद ने कहा—भगवन मैं सुख को जानना चाहता हूँ।

बाइसवाँ खन्ड समाप्तः ॥

तेईसवां खण्ड।

यो वै भूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

बहुत होने को, सबसे महान को और परम पुरुष को भूमा कहा है। सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जो महान् है। परम पवित्र सत्ता है वह सुख है। अल्प में सुख नहीं है। महान ही सुख है। महान ही जानने की इच्छा करने योग्य है। नारद ने कहा—भगवन ! मैं महान को जानना चाहता हूँ।

तेईसवां खन्ड समाप्तः ॥

चौबीसवां खण्ड।

यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् । स भगवः

कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? स्वे महिम्नि; यदि वा न महिम्नीति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—जिस परम शुद्ध अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को नहीं देखता, अन्य शब्द को नहीं सुनता और अन्य पदार्थ को नहीं जानता वह भूमा है। उस निरपेक्ष आत्मपद का नाम भूमा है। और जिस अवस्था में आत्मा अन्य वस्तुओं को देखता है, अन्य शब्द को सुनता है और अन्य वस्तुओं को जानता है वह अल्प है। जो ही भूमा है, परम आत्मपद है वह अमृत है, अविनाशी आनन्द है और जो परम अल्प है वह मरणीय है नारद ने पूछा—भगवन् ! वह भूमा किस में प्रतिष्ठित है, किस में स्थिर है ? सनत्कुमार ने उत्तर दिया—अपनी महिमा में, अपने विमल आत्मभाव में। अथवा न महिमा में।

गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। नाहमेवं ब्रवीमि। ब्रवीमिति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥२॥

इस लोक में गाय, अश्व, हस्ति सुवर्ण, दास, भार्या, भूमि और घर महिमा कही जाती है। परन्तु मैं ऐसा नहीं कहता, मैं इसे आत्मा की महिमा नहीं कहता। वह बोला—यह तो एक दूसरे में प्रतिष्ठित है, यह मैं कहता हूँ। आत्मभाव इस महिमा में प्रतिष्ठित है, मैं यह नहीं कहता।

॥ चौबीसवाँ खन्ड समाप्तः ॥

पच्चीसवां खण्ड ।

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्स पश्चात्सपुरस्तात्स दक्षिणतः, स उत्तरतः, सएवेदं सर्वमिति । अथातोऽहंकारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥१॥

वह भूमा ही नीचे है, वह ऊपर है, वह पीछे है, वह आगे है, वह दक्षिण से है, वह उत्तर से है, और वह ही यह सर्वत्र विद्यमान है। परम पुरुष की महिमा कह कर सनत्कुमार कहता है अब इससे आगे अहं भावना का उपदेश ही है। मैं ही नीचे हूँ, मैं ऊपर हूँ, मैं पीछे हूँ, मैं आगे हूँ, मैं दक्षिण से हूँ, मैं उत्तर से हूँ और मैं ही यह सब हूँ, मैं ही यह सर्व चैतन्य स्वरूप हूँ।

अथात आत्मादेश एव । आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति; तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥२॥

अब इससे आगे आत्मा का उपदेश ही है । आत्मा ही नीचे है, आत्मा ऊपर है, आत्मा पीछे है, आत्मा दक्षिण से है,

आत्मा उत्तर से है, आत्मा ही यह सब है, सर्वत्र विद्यमान तथा सर्वचैतन्य स्वरूप है। वह ही यह स्वात्म-परमात्म-ज्ञाता, शुद्ध स्वस्वरूप को तथा परमपुरुष को इस प्रकार देखता हुआ, ऐसे मनन करताहुआ, ऐसे जानता हुआ, आत्मा में रति-प्रसन्नता मानने वाला, आत्मा में, स्वस्वरूप में रमण करने वाला, स्वात्मा में अनन्यभाव से एक स्वात्मा में,आनन्दी वह अपना आप राजा होजाता है, वह आत्मज्ञानी अपना आप महाराजा-शासक-वन जाता है। उसे परकी अपेक्षा नहीं रहती। उसका सारे लोकों में यथेच्छा गमन होता है। और जो इससे विपरीव जानते हैं, आत्मदर्शी नहीं हैं, अन्य राजा वाले हैं वे नाशमय लोकों वाले होते हैं। उन बद्ध जीवों का सारे लोकों में यथेच्छा विचरण नहीं होता।

पच्चीसवां खन्ड समाप्तः ॥

छब्बीसवां खण्ड ।

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावात्मतोऽन्न-मात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मंत्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—ऐसे देखते हुए, ऐसे मनन करते हुए, ऐसे जानते हुए उस इस आत्मज्ञाता का आत्मा से प्राण है। आत्मा से आशा है, आत्मा से स्मृति, आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से प्रकट होना और नाश होना, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त, आत्मा से सङ्कल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाणी, आत्मा से श्रुतियां, आत्मा से कर्म और आत्मा से ही यह सब है। आत्म-ज्ञानी-मुक्तात्मा-आत्मा से ही सर्वसिद्धि सम्पन्न होता है। उसके आत्मभाव से होने योग्य स्वयं होजाता है। वह विमल आत्मभाव से सर्वज्ञ और सर्वसम्पन्न समझा गया है।

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम् । सर्व ह पश्यः पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वश इति ॥

वह यह इस पर श्लोक है। आत्मदर्शी मृत्यु को नहीं देखता, वह अमर हो जाता है। न वह रोग को भोगता है और न ही मानस दुःखावस्था को। आत्मदर्शी सब कुछ जानता है और सर्वसुख सर्व प्रकार से प्राप्त करता है।

स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पंचधा, सप्तधा, नवधा चैव, पुनश्चैकादश स्मृतः, शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः । आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते, तं स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

वह मुक्तात्मा एक होता है, उसका स्वरूप अखण्ड होता है परन्तु सिद्धिसंयोग से, परमेश्वर में रत रहने से, स्वसङ्कल्प पूर्वक त्रिधा, पंचधा, सप्तधा, नवधा, फिर एकादश, सौ, दस, एक सहस्त्रों तथा बीस प्रतीत होने लग जाता है। परमेश्वर की इच्छा में उसके ये सङ्कल्पमय स्वरूप होते हैं। इन्द्रियों से जो विषय ग्रहण किये जाते हैं उनका यहाँ नाम आहार है। उपासना से आहारशुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ध्रुव स्मृति हो जाती है। स्मृति-ज्ञान के लाभ होने पर अज्ञान, पाप आदि की सारी ग्रन्थियों का सर्वनाश हो जाता है। क्रोधादि दोषों को कषाय कहते हैं। भगवान् सनत्कुमार ने उस नष्टकषाय नारद को अज्ञानान्धकार से पार को आत्म-परमात्म-स्वरूप को दर्शाया। उपदेश देकर उसको आत्मदर्शी बना दिया। उस भगवान् सनत्कुमार को स्कन्द भी कहते हैं; उसको स्कन्द भी कहते हैं।

त्रयोदश खण्ड समाप्तः ॥

प्रपाठक आठवां (पहला खण्ड)

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्, तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

अब दहरो विद्या कही जाती है। इस ब्रह्मपुर में, भगवद्भक्त के शरीर में जो यह सूक्ष्म कमलगृह है, हृदय है और इस में भीतर जो सूक्ष्म आकाश-आत्मनिवासस्थान है उसमें जो

भीतर चैतन्य ज्योति है वह खोजने योग्य है । वह ही जानने की इच्छा करने योग्य है । ब्रह्म की उपासना आराधना मनुष्य शरीर में होती है इस कारण यह ब्रह्मपुर है ।

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥२॥

उस दहरोपासना के ज्ञाता भगवद्भक्त को यदि कोई कोरे तार्किक कहें कि इस ब्रह्मपुर में जो यह सूक्ष्म कमल गृह है, सूक्ष्म जो इसमें भीतर आत्मस्थान है, वह इस में क्या विद्यमान है जो खोजने योग्य है और जो ही जानने की इच्छा करने योग्य है।

स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥३॥

वह उपासक उन तार्किकों को कहे-जितना ही यह आकाश है उतना ही यह अन्तर्हृदय में आत्मभाव है। इस आत्मज्योति में दोनों, द्यौ और पृथिवी, भीतर ही भली भान्ति प्रतिबिम्बित हैं। दोनों अग्नि और वायु, दोनों सूर्य और चन्द्रमा, दोनों बिजली और नक्षत्र इस में समाहित हैं । इस भगवद्भक्त का इस संसार में जो कुछ ज्ञान है और जो ज्ञान नहीं है वह ज्ञाताज्ञात सब इस आत्मा में भली प्रकार निहित है ।

तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

उस उपासक को फिर यदि तार्किक कहें-इसब्रह्मपुर में यदि सब समाहित है, सारे पदार्थ और सारे मनोरथ भली प्रकार निहित हैं तो जब इस देह को बुढ़ापा प्राप्त होता है और जब यह शरीर नष्ट हो जाता है तो उसके पश्चात् क्या शेष रह जाता है ।

सब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभि-कामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

उन तर्कवादियों को वह उपासक उत्तर में कहे-शरीर की जीर्णता से यह ब्रह्मपुरस्थिति आत्मा नहीं जीर्ण होता । इस शरीर के वध से यह नहीं हनन किया जाता । यह आत्मा सच्चा ब्रह्मपुर है, इस में ही मनोरथ भली प्रकार स्थित हैं यह हृदय-स्थित आत्मा है, जरारहित है, मृत्युरहित है, शोकरहित है- क्षुधा-रहित है, तृषारहित है, सत्य इच्छा वाला है और सत्यसङ्कल्पवान् हैं । उसकी कामनायें ऐसे पूर्ण होती हैं जैसे ही इस लोक में प्रजायें राजा के पीछे चलती हैं; राजा का जैसा आदेश हो उसके अनुसार, जिस जिस प्रदेश को चाहने वाली हो जाती हैं । जिस

देश को, जिस क्षेत्र भाग को राजा प्रदान करे उस उसको ही भोगती हैं।

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

सो जैसे इस लोक में राजसेवादि कर्मों से प्राप्त भोग नाश हो जाता है, अन्त समय में साथ नहीं जाता, ऐसे ही परलोक में पुण्यकर्म से प्राप्त भोग क्षय हो जाता है। इस कारण जो सकाम कर्मीजन इस जन्म में आत्मा को और इन निष्कामकर्म के सच्चे मनोरथों-सुखों-को न जान कर मर जाते हैं उन बद्धजीवों का सारे लोकों में स्वतंत्र संचार होता है। और जो परमेश्वर के उपासक इस मनुष्य जन्म में आत्मा को और इन सच्चे सुखों को भली प्रकार जानकर शरीर छोड़ते हैं उन मुक्तात्माओं का सारे लोकों में स्वतंत्र संचार होता है, वे सर्वत्र निर्बाध होजाते हैं।

प्रथम खंड समाप्तः ॥

दूसरा खण्ड।

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ १ ॥

वह सर्वत्र स्वतंत्र मुक्तात्मा यदि पिता के लोक की कामना वाला होता है तो इसके सङ्कल्प से ही पितर इसके सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। उस पितृलोक से युक्त वह महिमावान हो जाता है। मुक्त आत्मा जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहे, वही वस्तुज्ञान वह सङ्कल्पमात्र से प्राप्त कर लेता है। यह सिद्धि उसे स्वभाव से प्राप्त हो जाती है।

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥२॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥३॥

और यदि वह मातृलोक की कामना वाला होता है तो इसके सङ्कल्प से ही माताएं आ उपस्थित होती हैं। उस मातृलोक से युक्त वह महिमा वाला हो जाता है। ऐसे ही भ्रातृलोक जानो।

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ४ ॥ अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते ॥५॥ अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ६ ॥

और यदि वह बहिनों के लोक की कामना करता है तो सङ्कल्प से बहिनों का मिलाप उसको प्राप्त हो जाता है। यदि वह मित्रों के लोक की कामना करता है तो सङ्कल्प से इसके मित्र

सम्मुख आ जाते हैं । यदि वह गन्ध और माला की कामना करता है तो इसके सङ्कल्प से गन्धमाला भी प्राप्त हो जाते हैं ।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥७॥ अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ८ ॥ अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति, तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ९ ॥

यदि वह अन्न जल के लोक की कामना करता है, गीत और बाजे की कामना करता है और पत्नी लोक की कामना करता है तो उक्त मन्त्र सङ्कल्प से ही इसके सम्मुख आ उपस्थित होते हैं ।

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ १० ॥

वह मुक्त आत्मा, जिस जिस प्रदेश को चाहने वाला होता है और जिस मनोरथ को चाहता है - वह इस के सङ्कल्प से ही उपस्थित हो जाता है । उस से युक्त होकर महिमावान् होजाता है । मुक्तात्मा स्वसङ्कल्प से सर्व तत्त्वों और सब वस्तुओं को जान लेता है । वह सफल मनोरथ और सिद्ध काम होता है ।

दूसरा खण्ड समाप्तः ॥

तीसरा खण्ड ।

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाᳫं सत्यानाᳫं सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिहि दर्शनाय लभते ॥ १ ॥

वे ये सच्चे आत्मिक मनोरथ बद्धजीव में असत्य-अज्ञान के ढकने से युक्त हैं। मनुष्य की सच्ची कामनाएँ अविद्या ने ढक रक्खी हैं। उन सत्य होने वाले म नोरथों का असत्य ढकन है। इस कारण इस मनुष्य का जो बन्धु यहाँ से मर जाता है, परलोक में उसके होने पर भी, उसको इस लोक में दर्शन के लिए वह नहीं प्राप्त कर सकत

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथाहि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्य नृतेन हि प्रत्यूढाः ॥ २ ॥

और इस मनुष्य के जो बन्धु जीते हैं, जो मर गये और जो कुछ अन्य वस्तु चाहता हुआ वह नहीं पाता, वह सब यहाँ ब्रह्मलोक में जाकर प्राप्त कर लेता है। यहाँ आत्मा में ही इस के ये सच्चे-अमोघ-मनोरथ असत्य से ढके हुए हैं। सो जैसे ही क्षेत्र में गड़े हुए सुवर्णकोश को, क्षेत्र को न जानने वाले उसके ऊपर चलते हुए भी कोश को नहीं पाते ऐसे ही ये सारी प्रजायें

दिन-दिन नित्यप्रति आत्मभाव में जाती हुई भी इस ब्रह्मलोक को नहीं प्राप्त करतीं। क्योंकि ये प्रजायें अज्ञान से ही आच्छादित हैं; अपने स्वरूप को भूली हुई हैं।

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ३ ॥

वह ही यह आत्मा हृदय में है, उसका यह ही निर्वचन है। हृदय में यह आत्मा है; इसी कारण हृदय कहा है। ऐसा जानने वाला दिन-दिन प्रतिदिन ही स्वर्ग लोक को, हृदय में आत्म-भाव को प्राप्त होता है। सुषुप्ति में तथा समाधि में आत्मा के सारे भाव हृदय में एकीभूत हो जाते हैं।

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥४॥

और वह यह स्वस्वरूप में प्रसन्न आत्मा, अत्यन्त मोक्ष समय, इस भौतिक शरीर से उठकर, निकलकर, परम ज्योति परमेश्वर धाम को पाकर अपने स्वरूप से प्रकट होताहै। गुरु जनों ने कहा—यह आत्मा है, परमपुरुष है, यह अमृत है, यह अभयपद है और ब्रह्म है। उस इस ब्रह्म का नाम सत्य है।

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥

सत्य शब्द के वे ही ये तीन अक्षर हैं, स, त, य । वह जो "स" है वह अमृत हैं; और जो "त्" है वह मर्त्य है, और जो "यम" है उससे "स" "त्" दोनों को जोड़ता है । जो इससे दोनों को जोड़ता है इस कारण "यम्" है । ऐसा जानने वाला प्रतिदिन स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है । सत्य शब्द से अविनाशी आत्मा का और नाशवान् का ज्ञान होता है ।

तीसरा खण्ड समाप्तः ॥

चौथा खण्ड ।

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतꣳ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतꣳ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥ १ ॥

और जो सर्वदा सत्यावस्था में रहने वाला आत्मा है, ब्रह्म है, वह परमेश्वर इन पृथिवीआदि लोकों के अविनाश के लिये पुल वा बान्ध है । उसके नियम में सब लोक बद्ध हैं । वह लोकों का धारक है । इस परमात्म-सत्ता रूप सेतु को दिनरात नहीं लांघते, उसमें काल नहीं है, न जरा, न मृत्यु, न शोक, न पुण्य, न पाप उसे लांघता है । उसका स्वरूप सर्वदा परम शुद्ध रहता है । सारे पाप इस पद से लौट आते हैं । पाप रहित ही यह ब्रह्मधाम है ।

तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धोभवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतꣳ सेतुं

तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

इस कारण से ही इस सेतु लांघ कर अंधा होता हुआ मनुष्य नयनवान्-ज्ञानवान् हो जाता है। पाप से बद्ध होने पर भी पापरहित-होजाता है और दुखः से पीडित होने पर भी अपीडित हो जाता है। इस कारण से ही इस सेतु को लांघ कर रात्रि, दिन हो जाती है। क्यों कि यह ही ब्रह्मधाम सदा, निरंतर प्रकाशमान है।

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाᳪ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

इस लिए जो ही उपासक इस ब्रह्म लोक को ब्रह्मचर्य से, यज्ञ कर्म, तप, संयम और जितेन्द्रियता से प्राप्त करते हैं उनका ही यह ब्रह्मधाम है। उन मुक्त आत्माओं का सारे लोकों में स्वच्छन्द संचार होता है।

चतुर्थ खन्ड समाप्तः ॥

पांचवां खण्ड।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

और जो यज्ञ-वैदिक होमादि-ऐसा कहते हैं, ब्रह्मचर्य ही वह कर्म है। ब्रह्मचर्य से ही जो ज्ञानी है उस ब्रह्म को पाता है। तथा जो इष्ट ऐसा कहते हैं, जो दान पुण्यादि कर्म बताये हैं; ब्रह्-

चर्य ही शुभकर्म है। ब्रह्मचर्य से ही ईश्वर को पूजकर उपासक आत्मा को प्राप्त करता है। सर्व शुभ कर्म ईश्वर प्राप्ति के साधन हैं।

अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दते। अथ यन्मौन मित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

और जो सत्त्रायण नाम से यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है; ब्रह्मचर्थ से ही उपासक अपने सदा निरन्तर रहने वाले आत्मा का रक्षण प्राप्त करता है। तथा जो मौन ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है ब्रह्मचर्य से ही, उपासक आत्मा को जान कर परमेश्वर के स्वरूप का मनन करता है।

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयꣳ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् ॥ ३ ॥

और जो अनाशकायन-उपवास-ऐसा कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि जिस स्वरूपको ब्रह्मचर्य, उपासक प्राप्त करता है वह यह आत्मा फिर नहीं नष्ट होता; सदा शुद्ध रस बना रहता है। तथा जो बनवास-ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्यों कि ब्रह्मलोक में अर और ण्य ये दो समुद्र हैं। यहां से तीसरे प्रकाशमय मोक्षधाम में वह ऐरम् सुख और "मदीयम्"

आनन्द का सरोवर है, सुख और आनन्द का समुद्र है। वहां अमृतनिस्रव करता हुआ अश्वत्थ वृक्ष है, अमृतमयपद है। वहां, सर्वसमर्थ परमेश्वर का बनाया हुआ आदित्यवर्ण, अविनाशी पुर है; ब्रह्मधाम है।

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥

इस कारण जो ही उपासक जन इन, "अरम्" सुख और "एयम्" आनन्दरूप दो समुद्रों को ब्रह्मलोक में ब्रह्मचर्य से प्राप्त करते हैं उनका ही यह ब्रह्मधाम है। उनका सारे लोकों में स्वतंत्र सञ्चार हो जाता है। ये दो समुद्र सुख और आनन्द ही समझने चाहिए।

पञ्चम खण्ड समाप्तः ॥

छठा खण्ड ।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिंगल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥

अब हृदय की नाड़ियों का वर्णन किया जाता है। जो ये मनुष्य के हृदय की नाड़ियां हैं वे पिंगलवर्ण के सूक्ष्मरस से भरी हुई हैं; शुक्लवर्ण के, नीलवर्ण के, पीतवर्ण के और रक्तवर्ण के सूक्ष्मरस से भरी हुई हैं। यह ही सूर्य पिंगलवर्ण है; यह शुक्लवर्ण यह नीलवर्ण यह पीतवर्ण और यह रक्तवर्ण है। ये सब

वर्ण सूर्य के हैं, उसको ज्योति से ये वर्ण, हृदयगत नाड़ियों के परमसूक्ष्म रसों में आये हैं।

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

वे सूर्य के वर्ण नाड़ियों के रसों में ऐसे आये हैं सो जैसे दूर तक लम्बा महामार्ग इस समीपस्थ और उस दूरस्थ दोनों ग्रामों को जाता है। ऐसे ही ये सूर्य की किरण इस और उस दूरस्थ दोनों लोकों को जाती हैं। उस आदित्य से ही फैलती हैं। वे किरणें इस लोक में आकर इन नाड़ियों में प्रविष्ट होकर फिर इन नाड़ियों से फैलती हैं। अन्त में वे किरणें लौट कर उस आदित्य में जा प्रविष्ट होती हैं।

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥ ३ ॥

इस कारण जिस अवस्था में यह जीवात्मा सोया हुआ, समशान्त और प्रसन्न होता है और स्वप्न को नहीं जानता उस समय वह इन नाड़ियों में प्रविष्ट होता है। उस काल उसको कोई भी पाप नहीं स्पर्श करता। उस समय आत्मा तेज से ही सम्पन्न होता है, आत्मज्योति से युक्त होता है।

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहु-र्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवतितावज्जानाति ॥४॥

तदनन्तर जिस अवस्था में ज्वरादि से यह जीवात्मा निर्ब-लता को प्राप्त होता है। तब उसको चारों ओर से घेर कर बैठे हुए बन्धुजन कहते हैं। तू मुझको जानता है, क्या तू मुझको जानता है ? वह म्रियमाण जीवात्मा जब तक इस शरीर से नहीं निकल जाता तब तक जानता पहचानता है।

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वामीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर जिस अवस्था में यह जीवात्मा प्रबुद्ध होकर इस शरीर से बाहर निकलता है तब इन ही किरणों द्वारा ऊपर को जाता है। वह ओम् का नाम उच्चारण करता हुआ ऊपर जाता है। वह जितने काल में मन सङ्कल्प करे उतने स्वल्प समय में आदित्य लोक को जा पहुँचता है। यह आदित्य लोक ही आत्म-ज्ञानियों के प्राप्त करने का लोकद्वार है और अज्ञानियों का निरोध है। अज्ञानी इस लोक को नहीं जाते।

तदेष श्लोकः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

इस पर यह श्लोक है । १०१ हृदय की नाड़ियां हैं । उनमें से एक ऊपर को निकली हुई है । विवेकी मनुष्य का आत्मा उससे ऊपर को जाता हुआ अमृतपन को मोक्षधाम को जाता है । अन्य नाड़ियां मरण समय नानायोनियों के मार्गों वाली होती हैं ।

छठा खण्ड समाप्तः ॥

सातवां खण्ड ।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्कामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

यह ऐतिहासिक घटना है कि एक सभा में प्रजापति नामक महर्षि ने कहा—जो आत्मा पापरहित है, अजर है, अमर है, शोकरहित है, क्षुधारहित है, तृषारहित है, सत्यकाम है और सत्य संकल्प है वह ही खोजने योग्य है और वह ही जानने की इच्छा करने योग्य है । जो परमेश्वर भक्त उस आत्मा को साक्षात् करके जानता है वह सारे लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है ।

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्ततमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्रांज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानामेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

वह उपदेश दोनों देव और असुर समझे वे अपने अपने दलों में परस्पर बोले-अहो ! जिस आत्मा को खोज कर, जान कर मनुष्य सारे लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है हम उस आत्मा को जानना चाहते हैं। तब देवों का नेता इन्द्र चला और असुरों का नेता विरोचन चल पड़ा। वे दोनों विवाद न करते हुए, शान्तभाव से ही समिधा हाथ में लिये प्रजापति के समीप आये।

तौह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य मूषतुस्तौ ह प्रजापति-रुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य-संकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजाना-तीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥ ३ ॥

वे आकर बत्तीस वर्ष तक प्रजापति के पास ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे। तदनन्तर उनको प्रजापति ने कहा—आप दोनों क्या चाहते हुए यहां रहे ? वे बोले—जो आत्मा पापरहित है इत्यादि वह जानना चाहिए। उसको जो जानता है वह सारे लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है, यह भगवान् के वचनों से जिज्ञासु जन जानते हैं। उस आत्मा को जानना चाहते हुये हम यहां रहे।

तौ ह प्रजापतिरुवाच—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच। एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। अथ योऽयं

भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥

उनको प्रजापति ने कहा—जो यह आंख में आत्मा देखा जाता है, जो समाधि में दिव्यनेत्र से पुरुष देखा जाता है; यह आत्मा है। यह अमृत है, अभय है और यह महान् है। उन्हों ने पूछा—भगवन्! और जो यह जलों में प्रतिबिम्बरूप से देखा जाता है और जो यह दर्पण में प्रत्याकृतिरूप देखा जाता है यह कौन है? प्रजापति ने कहा—यह ही आंख में देखा गया पुरुष इन सब में प्रतीत होता है, उसी का भाव इन में झलकता है।

सातवां खन्ड समाप्तः ॥

आठवां खण्ड।

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति। तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते। तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति? तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

प्रजापति ने कहा—पानी के प्याले में आत्मा को देखकर यदि आत्मा के स्वरूप को न जान सको तो मुझे बताना। वे आत्मा को पानी के प्याले में देखने लगे। उन को प्रजापति ने कहा-क्या देखते हो? वे बोले-भगवन्! सारे ही इस आत्मा को हम देखते हैं, लोमों से लेकर नखपर्यन्त प्रतिरूप को हम देखते हैं।

तौ ह प्रजापतिरुवाच-साध्वलंकृतौ, सुवसनौ, परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति। तौ ह साध्वलंकृतौसुवसनौ, परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते। तौ ह प्रजापतिरुवाच-किं पश्यथ इति ? ॥२॥

फिर उनको प्रजापति ने कहा-तुम दोनों अच्छे अलंकृत, सुवस्त्रधारी और विभूषित होकर आत्मा को पानी के प्याले में देखो। वे अच्छे अलंकृत, सुवस्त्रधारी वेष-विभूति होकर पानी के प्याले में आत्मा को देखने लगे। उनको प्रजापति ने कहा-क्या देखते हो ? ॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ, सुवसनौ, परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साधुलंकृतौ, सुवसनौ, परिष्कृताविति। एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

वे बोले—भगवन ! जैसे ही यह हमारे शरीर अच्छे अलंकृत, सुवस्त्र वाले, परिष्कृत हैं, ऐसे ही भगवन् ! ये प्रतिबिम्ब अच्छे अलंकृत, सुवस्त्रयुक्त और परिष्कृत दीखते हैं। प्रजापति ने कहा—यह आत्मा है; यह अमृत तथा अभय है और यह महान् है। वे शान्तहृदय होकर चले गये। यहाँ प्रजापति का संकेत प्रतिबिम्ब के द्रष्टा की ओर है।

तौ हान्वीक्ष्य प्रतिपतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजरो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति सह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुरांजगाम तेभ्यो

हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य आत्मान-मेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥ ४ ॥

उन जाते हुओं को देख कर प्रजापति ने कहा—आत्मा को न पाकर और न जानकर जा रहे हैं, जो देव वा असुर इस उप-निषद् वाले हो जायेंगे। देव वा असुर, वे इस उपनिषद् वाले हार जायेंगे। वह शान्तहृदय विरोचन असुरों के पास जा पहुँचा और उनको यह उपनिषद् बताने लगा। देह ही इस लोक में पूजनीय है और देह सेवनीय है। अपने शरीर को ही इस लोक में पूजता हुआ और देह को सेवन करता हुआ इस और उस दोनों लोकों को मनुष्य प्राप्त कर लेता है।

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बते-त्यसुराणाᳩ ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारे-णेति सᳩस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

इस कारण आज भी इस लोक में अदाता को, अश्रद्धालु को और यजमान को पण्डितजन कहते हे कि यह असुर ही है। यह असुरों की विद्या है कि वे मरे हुए के शरीर को मालादि से, वस्त्र से, अलङ्कार से सजाते हैं। इस कर्म से परलोक को जीत जायेंगे यह वे मानते हैं।

आठवां खण्ड समाप्तः

नवां खण्ड

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श । यथैव खल्वय-मस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृत भवति, सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति; स्रामे स्राम, परिवृक्णे परिवृक्णः । अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

और इन्द्र ने देवों को न पहुँच कर ही मार्ग में यह भय देखा निश्चय जैसे ही यह छायापुरुष इस शरीर के अच्छे अलंकृत होने पर अच्छा अलंकृत होता है; सुवस्त्रयुक्त होने पर सुवस्त्रवान् और परिष्कृत होने पर परिष्कृत होता है ऐसे ही यह छायापुरुष इस शरीर के अन्धा होने पर अन्धा हो जाता है; काना होने पर काना और अङ्गहीन होने पर अङ्गहीन हो जाता है । इस शरीर के नाश पर ही यह नष्ट हो जाता है । मैं इस आत्मविद्या में कल्याण नहीं देखता ।

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तं ह प्रजापतिरुवाच-मघवन्! यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन, किमिच्छन् पुन-रागम इति ? स होवाच-यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्व-लंकृते साध्वलंकृतो भवति; सुवसने सुवसनः, परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति; स्रामे स्रामः परिवृक्णे परि-वृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्या-मीति ॥ २ ॥

वह इन्द्र समित्पाणि फिर लौट आया। उसको प्रजापति ने कहा—इन्द्र! विरोचन के साथ जो तू शान्त-हृदय होकर चला गया था अब क्या चाहता हुआ फिर लौट-आया है? वह इन्द्र बोला—भगवन्! यह देहछाया विद्या सन्तोष जनक नहीं है इत्यादि।

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥३॥

प्रजापति ने उसे कहा-मघवन्! ऐसा ही यह है, इस में कल्याण नहीं दीखता। यह ही ज्ञान तुझे दुबारा व्याख्यापूर्वक कहूँगा। तू और बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक मेरे पास रह। वह और बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक रहा फिर उसको प्रजापति ने कहा।

नवम खण्ड समाप्तः ॥

दसवां खण्ड

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज सहाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदँ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥१॥

प्रजापति ने कहा—जो यह साक्षी स्वप्न में नाना रूपादि, से पूज्यमान होकर विचरता है यह आत्मा है; यह अमृत, अभय

है । यह ब्रह्म है । वह इन्द्र शांतहृदय होकर चला गया । परन्तु उसने देवों को न पहुँच कर ही इस भय को जान लिया । सो यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तो वह स्वप्न का साक्षी अन्धा नहीं होता, यदि यह काना हो तो वह काना नहीं होता । इस शरीर के दोष से यह नहीं दूषित होता ।

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

इसके वध से वह नहीं हनन होता, इसके कानापन से वह नहीं काना होता परन्तु इसको मारते हैं, ऐसा, भगाते से हैं, ऐसा प्रतीत होता है और वह अप्रिय रूपादिकों को जानने वाला सा होजाता है तथा रोता सा प्रतीत होता है । मैं इस स्वप्न के साक्षी के स्वरूप में कल्याण नहीं देखता ।

समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्य-च्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥३॥

वह सामग्री हाथ में लिये फिर लौट आया । उसको प्रजा-पति ने कहा—मघवन् ! जो शान्त हृदय होकर तू गया था अब क्या चाहता हुआ फिर लौट आया है ? शेष पूर्ववत् ।

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपिरोदितीव नाहमत्र भोग्यं

पश्यामीत्येत्रमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्या-ख्यास्यामि वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥४॥

दशम खन्ड समाप्तः ॥

ग्यारहवां खण्ड

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति । स ह शांतहृदयः प्रवव्राज । स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श । नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति, नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

सो जिस सुषुप्ति अवस्था में यह सोया हुआ, स्वस्वरूप में स्थित सम्प्रसन्न होता है और स्वप्न को नहीं जानता यह आत्मा है; यह उसने कहा। यह अमृत, अभय है। यह महान् है। वह शान्त हृदय होकर चला गया। परन्तु उसने, देवों को न पहुंच ही इस उपदेश में यह दोष देखा। निश्चय ऐसे इस विद्यमान आत्मा को नहीं जानता कि यह मैं हूँ, न ही इन भूतों को जान सकता है। क्यों कि सुषुप्ति में यह विनाश में ही लीन होता है। इस कारण मैं इस सुषुप्ति अवस्था में कल्याण नहीं देखता।

स समित्पाणिः पुनरेयाय। तं ह प्रजापतिरुवाच-मघवन्! यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति ? स

होवाच-नाह खल्वयं भगव एवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहम-स्मीति , नो एवेमानि भूतानि । विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

वह समिधा हाथ में लिये फिर लौट आया। उसको प्रजापति ने कहा—भगवन्! तू जो शान्तहृदय होकर चला गया था अब क्या चाहता हुआ फिर लौट आया है ? उसने कहा—भगवन्! यह जन ऐसे विद्यमान आत्मा को नहीं जान सकता कि यह मैं हूँ, न ही इन भूतों को। सुषुप्ति में विनाश में ही लीन होता है। मैं इस में कल्याण नहीं देखता।

एवमेवैष मघवन्निति होवाच । एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्या-ख्यास्यामि । नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पंचवर्षाणीति सहाऽपराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतꣳ संपेदुरेतत्तद्य-दाहुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

प्रजापति ने कहा—भगवन्! ऐसा ही यह है। यह ही आत्मविद्या तुझे मैं फिर कहूँगा। इससे दूसरी बात नहीं कहूँगा। तू और पांच वर्ष मेरे पास रह, वह और पांच वर्ष रहा। वे वर्ष सारे मिलकर एक सौ एक हो गये। यह वह जो कहते हैं कि एक सौ एक वर्ष ही इन्द्र प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा यह, ठीक है। फिर उसको प्रजापति ने उपदेश दिया।

स्वप्न सुषुप्ति के साक्षी और स्वस्वरूपस्थ आत्मा से प्रजापति का तात्पर्य्य था परन्तु इन्द्र इन दोनों अवस्थाओं को आत्मा समझता रहा ।

एकादशो खन्ड समाप्तः ॥

बारहवां खण्ड ।

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! यह पांच भूतों का बना देह मरणधर्मा है, मृत्यु से ग्रस्त-खाया हुआ है । वह शरीर इस अविनाशी, अशरीर आत्मा का अधिष्ठान है, रहने का स्थान है । निश्चय सशरीर आत्मा प्रियाप्रिय से—सुख दुःख से ग्रस्त है । निश्चय शरीरवाले आत्मा के सुख दुःखों का नाश नहीं है । आत्मा के अशरीर ही होनेपर सुख दुःख नहीं स्पर्श करते ।

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

अशरीर वायु है । मेघ, बिजली, और मेघगर्जन-ध्वनि-ये अशरीर हैं । सो जैसे ये वायु आदि उस आकाश से उद्भूत होकर परम ज्योति—स्वकारण—को प्राप्त करके अपने अपने स्वरूप से प्रकट होते हैं ।

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडंरममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिंछरीरे प्राणो युक्तः ॥ ३ ॥

ऐसे ही यह प्रसन्न आत्मा इस शरीर से निकल कर परम ज्योति को परमेश्वर धाम को प्राप्त करके अपने परमशुद्ध स्वरूप से प्रकट होता है। वह मुक्तात्मा उत्तम पुरुष है। वह आत्मा वहां मुक्ति में रहता है। मुक्त होकर वह स्त्रियों से, यानों से बन्धुओं से हंसता हुआ, खेलता हुआ और जो रमण करता हुआ सशरीर आत्मा था उसको, मित्रवर्ग को और इस भौतिक शरीर को न स्मरण करता हुआ रहता है। वह जैसे रथ में जुड़ा हुआ घोड़ा होता है ऐसे ही यह आत्मा इस शरीर में जुड़ा हुआ है। मुक्त होकर ही इससे पृथक् होता है।

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥४॥

और सशरीर के देह में यह आकाश कृष्णतारा अनुगत है वह चक्षु है। उस द्वारा देखने वाला वह आंख में रहने वाला पुरुष-आत्मा है; देखने के लिए आंख है। और जो जानता है कि मैं इसको सूंघूं वह आत्मा है, गन्ध के लिए घ्राण इन्द्रिय

है। और जो जानता है कि मैं इस वाक्य को बोलूं वह आत्मा है, बोलने के लिए वाणी है। और जो जानता है कि मैं इसको सुनू वह आत्मा है, सुनने के लिए श्रोत्र है।

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥५॥

तथा जो जानता है कि इसको मनन करूं वह आत्मा है; मन इस आत्मा का स्वाभाविक नेत्र है। वह ही यह आत्मा इस स्वाभाविक नेत्र मन से इन मनोरथों को देखता हुआ मोक्ष में रमता है। मुक्त आत्मा का नेत्र केवल स्वाभाविक चेतना मन है।

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥६॥

ऊपर कहे ब्रह्मलोक में जो ये देव हैं, मुक्त आत्माएं हैं वे उस ही इस परमेश्वर को आराधते हैं। उनका इष्ट केवल परमपुरुष है। इस कारण उन मुक्त आत्माओं को सारे लोक और सारे मनोरथ प्राप्त हैं। जो उपासक उस परमात्मा को भली प्रकार समझ कर जानता है वह सारे लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त करता है। यह प्रजापति ने कहा, प्रजापति ने कहा।

द्वादश खण्ड समाप्तः ॥

तेरहवां खण्ड ॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति ॥१॥

देह में निवास करने वाले आत्मा को श्याम कहा है, छायापुरुष वर्णन किया है। जो आत्मा परमात्मज्योति में जाता है, ब्रह्मधाम में प्रतिष्ठित होता है वह शबल है। श्याम से मैं शबल को प्राप्त होता हूँ। शबल से श्याम को जानता हूँ। रोमों को घोड़ा जैसे दूर कर देता है ऐसे पाप को दूर कर राहु के मुख से चन्द्र की भांति पाप को छोड़ कर और शरीर को त्याग कर मैं कृतात्मा होकर अविनाशी, न बनाये हुए ब्रह्मधाम को प्राप्त होता हूँ, प्राप्त होता हूँ।

त्रयोदश खन्ड समाप्तः ॥

चौदहवां खण्ड।

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्वेतमदत्कमदत्कꣳ श्वेतं लिन्दुमाभिगां लिन्दु-माभिगाम् ॥१॥

निश्चय से निराकार परमेश्वर नाम रूप का चलाने वाला है, नामरूपमय जगत् का वह ही संचालक है । वे नामरूप जिसके भीतर हैं, जिसके नियम में हैं वह ब्रह्म है, वह अमृत है और वह आत्मा है । ऐसे ईश्वर का उपासक मैं प्रजापति के सभा गृह को सत्संग को प्राप्त होऊं । मैं ब्राह्मणों के यश वाला होऊं, राजाओं के यशवाला होऊं और वैश्यों के यशवाला होऊं । मैं शुद्ध यश को प्राप्त करना चाहता हूँ । वह मैं यशों का यश-परम शुद्ध आत्मा फिर दांत रहित भक्षण करने वाले श्वेतरेतस् को और पिछले जन्म स्थान को न प्राप्त होऊं, न प्राप्त होऊं ।

चतुर्थ खंड समाप्तः ॥

पन्द्रहवां खण्ड ।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

वह यह ब्रह्मविद्या का रहस्य ब्रह्मा ने प्रजापति को कहा, प्रजापति ने मनु को और मनु ने लोगों को बताया । आत्मज्ञान के जिज्ञासु को चाहिए कि आचार्यकुल से वेद को पढ़ कर यथाविधि

गुरु के पास से सारे सेवादि कर्म करके समावर्त्तन करा कर परिवार में रहता हुआ, पवित्र स्थान में बैठ कर स्वाध्याय करता हुआ, सन्तानों को तथा अन्य जनो को धार्मिक बनाता हुआ, सारी इन्द्रियों को आत्मा में संयम कर धार्मिक कर्त्तव्य कर्मों से भिन्न स्थानों में सारे प्राणियों को न सताता हुआ, वह आयुभर ऐसे वर्तता हुआ अन्त में ब्रह्मधाम को प्राप्त होता है। वहाँ से वह फिर नहीं लौटकर आता, नहीं फिर लौट कर आता।

अथ शान्तिः।

ॐ आप्यायन्तु ममांगानि, वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बल मिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्। माहं ब्रह्म निराकुर्याम्, मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

ओम् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

❀ इति सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् समाप्तः

लाहौर प्रिंटिंग वर्क्स, फतेहपुरी, देहली में मुद्रित।